वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला का पुष्प नं. 88
ISBN 978-93-82071-14-3

श्रीमद् आचार्य नेमीचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती विरचित
गोम्मटसार जीवकाण्ड से संकलित

गोम्मटसार जीवकाण्ड सार

–संकलनकर्त्री –

परमपूज्य गणिनीप्रमुख आर्यिकाशिरोमणि
श्री ज्ञानमती माताजी

शरदपूर्णिमा महोत्सव, 11 अक्टूबर 2011 को जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर में
पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी द्वारा घोषित
''प्रथम पट्टाचार्य श्री वीरसागर वर्ष'' के अन्तर्गत प्रकाशित

-प्रकाशक-
दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान
जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर (मेरठ) उ.प्र.-250404
फोन नं.- (01233) 280184, 280994
Website : www.jambudweep.org
E-mail : jambudweeptirth@gmail.com

द्वितीय संस्करण | वीर नि. सं. 2538, श्रावण कृ. एकम् | मूल्य
500 प्रतियाँ | 4 जुलाई 2012, वीर शासन जयंती पर्व | 60/-रु.

दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान द्वारा संचालित

वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला

इस ग्रन्थमाला में दिगम्बर जैन आर्षमार्ग का पोषण करने वाले हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत, कन्नड़, अंग्रेजी, गुजराती, मराठी आदि भाषाओं के न्याय, सिद्धान्त, अध्यात्म, भूगोल-खगोल, व्याकरण आदि विषयों पर लघु एवं वृहद् ग्रंथों का मूल एवं अनुवाद सहित प्रकाशन होता है। समय-समय पर धार्मिक लोकोपयोगी लघु पुस्तिकाएं भी प्रकाशित होती रहती हैं।

–: संस्थापिका एवं प्रेरणास्रोत :–
परमपूज्य गणिनीप्रमुख आर्यिकाशिरोमणि श्री ज्ञानमती माताजी

–: मार्गदर्शन :–
प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका श्री चन्दनामती माताजी

–: निर्देशक एवं सम्पादक :–
स्वस्तिश्री कर्मयोगी पीठाधीश रवीन्द्रकीर्ति स्वामी जी

–: प्रबंध सम्पादक :–
जीवन प्रकाश जैन

प्रथम संस्करण, सन् 1988–1100 प्रतियाँ प्रकाशित

सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन

कम्पोजिंग - ज्ञानमती नेटवर्क
जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर (मेरठ) उ.प्र.

सम्पादकीय

–स्वस्तिश्री कर्मयोगी पीठाधीश
रवीन्द्रकीर्ति स्वामी जी

साहित्य समाज का दर्पण है। व्यक्ति गतिशील है और नई-नई खोज में विश्वास करता है। आज के व्यस्ततम जीवन में यूँ तो धार्मिक पठन-पाठन के लिए व्यक्ति अपना समय निकाल नहीं पाता और कदाचित् निकाल भी लेवे, तो बड़े-बड़े गूढ़ अर्थ विषयक ग्रंथ उसकी धर्मज्ञान की रुचि को कम करते देखे जाते हैं। ऐसे समय में अगर उस ग्रंथ का सार किसी लघु पुस्तक के माध्यम से प्राप्त हो जाये और प्राणी के ज्ञानवर्धन में निमित्त बन जाए, तो उसे अत्यन्त आल्हाद का अनुभव होता है।

हम गौरवशाली हैं कि हमें इस युग में परमपूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी जैसी साध्वी का सान्निध्य प्राप्त हुआ है, जिन्होंने अनेकों लघु एवं वृहत् ग्रंथों की रचना, संस्कृत टीका, पद्यानुवाद आदि करके हमें विपुल साहित्य प्रदान किया है। अष्टसहस्री, नियमसार जैसे उच्च कोटि के ग्रंथों का अनुवाद करने वाली पूज्य माताजी ने आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती द्वारा लिखित गोम्मटसार जीवकाण्ड एवं कर्मकाण्ड को सार रूप में प्रस्तुत कर विद्यार्थियों के लिए मानो अमूल्य भंडार की कुंजी ही प्रदान कर दी है, जिसका प्रथम संस्करण वीर ज्ञानोदय ग्रंथमाला द्वारा सन् 1988 में प्रकाशित किया गया था, अब पुनः उसकी अत्यधिक मांग के कारण हम उसका द्वितीय संस्करण प्रकाशित कर विशेष गौरव का अनुभव कर रहे हैं।

अस्तु इस गोम्मटसार जीवकाण्ड सार नामक लघु किन्तु गागर में सागर के समान ग्रंथ को पढ़कर पाठक एवं विद्यार्थी विद्वान् बनकर जिनधर्म की कीर्ति को प्रसारित करने में सहायक बनें, यही इसकी सार्थकता होगी।

प्रस्तावना

–प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका चन्दनामती

प्रस्तुत ग्रंथ जो कि ''गोम्मटसार जीवकाण्ड'' नाम से प्रसिद्ध है, इसमें मुख्यरूप से आचार्य श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने बीस प्ररूपणाओं का निरूपण किया है। जैसा कि जीवकाण्ड की द्वितीय गाथा में कहा है–

गुणजीवापज्जत्ती पाणा सण्णा य मग्गणाओ य।
उवओगो वि य कमसो वीसं तु परूवणा भणिदा।।

गुणस्थान, जीवसमाज, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा, चौदह मार्गणा और उपयोग इस प्रकार इन बीस प्ररूपणाओं को बताने के लिए मूल ''गोम्मटसार जीवकाण्ड'' ग्रंथ में 434 गाथाएँ हैं।

इस ग्रंथ के बारे में ऐसी किंवदन्ती सुनी जाती है कि आज से 1000 वर्ष पूर्व आचार्य श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती महाराज ने अपने प्रिय शिष्य श्रावक शिरोमणि चामुण्डाराय अपरनाम गोम्मटराय के निमित्त से इस ग्रंथ की रचना की, एतदर्थ इसका नाम 'गोम्मटसार'' रखा। गोम्मटसार को जीवकाण्ड और कर्मकाण्ड इन दो भागों में उन्होंने दो ग्रंथों का निर्माण किया है।

इस जीवकाण्ड में जीव के अशुद्ध स्वरूप का विवेचन करते हुए शुद्ध जीव तत्तव की प्राप्ति का उपाय बतलाया है। इसको आद्योपान्त अध्ययन करने वलो विद्यार्थी करणानुयोग का तलस्पर्शी ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं।

जैनधर्म की विशारद एवं शास्त्री परीक्षा में विद्यार्थियों को ये ग्रंथ पढ़ाये जाते हैं। पहले के लोग तो पूर्ण रूप से इन गाथाओं को कण्ठस्थ करके परीक्षा दिया करते थे किन्तु वर्तमान में इतने बड़े ग्रंथ का अध्ययन एक दुर्लभ सा विषय बन गया है इसीलिए परमपूज्य गणिनी आर्यिकारत्न श्री ज्ञानमती माताजी ने इस ओर ध्यान देकर प्रत्येक क्लिष्ट ग्रंथों का आलोढ़न करके सार रूप पुस्तकें निर्माण की हैं। उसी श्रृँखला में इस ''गोम्मटसार जीवकाण्डसार'' में कुल 157 गाथाएँ हैं, जिन्हें परीक्षा के दृष्टिकोण से पूज्य माताजी ने मुख्य रूप में संकलित किया है एवं प्रत्येक अध्याय के अंत में उस अध्याय का सार दिया है।

सिद्धान्तचक्रवर्ती आचार्य श्री नेमिचन्द्र जी की अनमोल कृतियों को जनसाधारण तक पहुँचाने का यह सराहनीय प्रयास है। आचार्य श्री तो षट्खण्डागम के पारगामी विद्वान थे। कर्मकाण्ड की निम्न गाथा से विदित होता

है कि नेमिचन्द्राचार्य ने षट्खण्डागम की पूर्ण साधना की थी–

जह चक्केण य चक्की छक्खंडं साहियं अविग्घेण।
तह मइ चक्केण मया छक्खडं साहियं सम्मं।।387।।

जिस प्रकार चक्रवर्ती अपने चक्ररत्न के द्वारा षट्खण्ड भरतक्षेत्र को किसी विघ्न बाधा के बिना ही साधित करता है-वश करता है, उसी प्रकार मैंने भी अपने बुद्धि रूपी चक्र के द्वारा जीवस्वामी, क्षुद्रबंध, बंधस्वामी, वेदनाखण्ड, वर्गणा खण्ड और महाबंध इन छह खण्डों से युक्त परमागम को अच्छी तरह साधित किया है-उसका अध्ययन किया है। इसीलिए आचार्य श्री को सिद्धान्तचक्रवर्ती पद से विभूषित किया गया था। श्री अभयनंदी महाराज इनके दीक्षा गुरु थे और वीरनन्दि तथा इन्द्रनन्दि इनके विद्या गुरु थे। श्री अभयनंदि गुरु के प्रसाद से इन्होंने अपने आपको अनंत संसार से उत्तीर्ण हुआ प्रगट किया है और इन्द्रनंदि तथा वीरनंदि को श्रुतसागर के पारगामी बताते हुए अपने आपको उनका वत्स बतलाया है।

कर्मकाण्ड की 396 नं. की गाथा में स्वयं उन्होंने बतलाया है कि इन्द्रनंदि गुरु के पास सकल सिद्धान्त को सुनकर श्री कनकनंदि गुरु ने सत्वस्थान का निरूपण किया है। इससे सिद्ध होता है कि कनकनंदि इनके सधर्मा अग्रज गुरुभाई थे। त्रिलोकसार के अंत में भी इन्होंने कहा है–

इदि णेमिचंदमुणिणा अप्पसुदेणभयणंदिवच्छेण।
रइयो तिलोयसारो खमंतु तं बहुसुदाइरिया।।1018।।

इस गाथा के द्वारा आचार्य श्री नेमिचन्द्र जी ने अपने आपको अभयनंदी का शिष्य घोषित किया है। इन्हीं अभयनंदी को चन्द्रप्रभचरित के रचयिता वीरनंदी ने भी अपना गुरु घोषित किया है।

आचार्य श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती की अमरकृतियों में कर्नाटक श्रवणबेलगोला की भगवान बाहुबली स्वामी की 57 फुट उत्तुंग प्रतिमा है। आज से 1000 वर्ष्ज्ञ पूर्व महामात्य चामुण्डराय ने मातृभक्तिवश आचार्य श्री की प्रेरणा से इस अद्वितीय कृति का निर्माण करवाया था। ऐसे उन आचार्य परमेष्ठि के श्रीचरणों में वन्दन करते हुए पाठक एवं विद्यार्थीगण इस पुस्तक का पूरा-पूरा लाभ उठावें, यही अभिलाषा है।

विषयानुक्रमणिका

क्र.	विषय	पृष्ठ नं.
1.	मंगलाचरण	1
	प्ररूपणा एवं गुणस्थान	
2.	प्ररूपणा के भेद	2
3.	गुणस्थान मार्गणा पर्यायवाची	4
4.	गुणस्थान का लक्षण	5
5.	गुणस्थान के नाम	6
6.	मिथ्यात्व का लक्षण	7
7.	सासादन का लक्षण	8
8.	मिश्रगुणस्थान का लक्षण	9
9.	चतुर्थ गुणस्थान का लक्षण	10
10.	देशविरत का लक्षण	13
11.	छट्ठे गुणस्थान का लक्षण	14
12.	प्रमाद के भेद	15
13.	सप्तम गुणस्थान का लक्षण	16
14.	अपूर्वकरण गुणस्थान का लक्षण	16
15.	नवमें गुणस्थान का लक्षण	17
16.	दशवें गुणस्थान का लक्षण	18
17.	उपशांतकषाय गुणस्थान का लक्षण	18
18.	बारहवें गुणस्थान का लक्षण	19
19.	तेरहवें गुणस्थान का लक्षण	20
20.	चौदहवें गुणस्थान का लक्षण	21
21.	सिद्धों का लक्षण	22
22.	गुणस्थान सार	22
	जीवसमास	
22.	जीवसमास का लक्षण	28
23.	जीवसमास के भेद	29
24.	आकृति योनि के भेद	29
25.	गुणयोनि के भेद	30
26.	चौरासी लाख योनि के भेद	31
27.	कुल कोटी के भेद	31
28.	जीवसमास प्ररूपणा सार	32
	पर्याप्ति	
29.	पर्याप्ति का लक्षण	38
30.	पर्याप्ति के भेद	38
31.	क्षुद्र भवों की संख्या	40
32.	पर्याप्ति प्ररूपणा सार	41
	प्राण प्ररूपणा	
32.	प्राण का लक्षण	44
33.	प्राणों के नाम	44
34.	प्राण प्ररूपणा सार	45
	संज्ञा	
34.	संज्ञा का लक्षण	46
35.	आहार संज्ञा	46
36.	भय संज्ञा का स्वरूप	47
37.	मैथुन संज्ञा का स्वरूप	47
38.	परिग्रह संज्ञा का स्वरूप	48
39.	संज्ञा प्ररूपणा सार	48
	मार्गणा अधिकार-गति मार्गणा	
39.	मार्गणा का लक्षण	51
40.	मार्गणा के नाम	52
41.	गति का लक्षण	52
42.	नरकगति का लक्षण	53
43.	तिर्यग्गति का लक्षण	53
44.	मनुष्यगति का लक्षण	55
45.	देवगति का लक्षण	56
46.	सिद्धगति का लक्षण	57
47.	पर्याप्त मनुष्यों की संख्या	58
48.	गतिमार्गणा सार	58

क्र.	विषय	पृष्ठ नं.
	इन्द्रिय मार्गणा	
48.	इन्द्रिय का लक्षण	62
49.	इन्द्रिय का आकार	63
50.	एकेन्द्रिय जीवों की संख्या	66
51.	इन्द्रिय मार्गणा सार	67
	कायमार्गणा	
51.	काय का स्वरूप	70
52.	पृथ्वी आदि चार स्थावर का स्वरूप	71
53.	शरीर के भेद	72
54.	वनस्पतिकाय का लक्षण भेद	72
55.	वनस्पतिकाय का अवान्तर भेद	73
56.	वनस्पतिकाय का सप्रतिष्ठित और अप्रतिष्ठित भेद	74
57.	साधारण जीव के स्वरूप	75
58.	एक निगोद शरीर में कितने जीव	76
59.	नित्यनिगोद का स्वरूप	76
60.	निगोद रहित कौन है	77
61.	स्थावर एवं त्रस के आकार	77
62.	काय मार्गणा सार	78
	योगमार्गणा	
62.	योग का स्वरूप	81
63.	दश प्रकार का सत्य	82
64.	दश प्रकार का दृष्टांत	83
65.	केवली के द्रव्यमन	84
66.	आहारक काययोग का लक्षण	85
67.	आहारक पुतला का स्वरूप	86
68.	योग मार्गणा सार	88
	वेदमार्गणा	
68.	वेदमार्गणा का लक्षण	90
69.	पुरुष वेद का लक्षण	90
70.	स्त्रीवेद का लक्षण	91
71.	नपुंसकवेद का लक्षण	91
72.	वेदमार्गणा सार	92
	कषायमार्गणा	
72.	कषाय का लक्षण	94
73.	कषाय का काय	94
74.	शक्ति की अपेक्षा क्रोध के भेद	95
75.	मान के भेद	96
76.	माया के भेद	96
77.	लोभ के भेद	97
78.	कषाय जीवों का लक्षण	97
79.	कषाय मार्गणा सार	98
	ज्ञानमार्गणा	
72.	ज्ञान का लक्षण	100
73.	कुमतिज्ञान का स्वरूप	100
74.	कुश्रुतज्ञान का स्वरूप	101
75.	कुअवधि ज्ञान का स्वरूप	101
76.	मतिज्ञान का स्वरूप	102
77.	श्रुतज्ञान का स्वरूप	103
78.	श्रुतज्ञान के भेद	104
79.	पर्याय भेद	104
80.	अंगबाह्य श्रुत के भेद	107
81.	श्रुतज्ञान का माहात्म्य	108
82.	अवधि ज्ञान का स्वरूप	108
83.	अवधिज्ञान के स्वामी	109
84.	मनःपर्यय का स्वरूप	109
85.	केवलज्ञान का स्वरूप	110
86.	ज्ञान मार्गणा सार	110
	संयममार्गणा	
86.	संयम का लक्षण	115
87.	सामायिक का लक्षण	115

क्र.	विषय	पृष्ठ नं.
88.	छेदोपस्थापना का लक्षण	115
89.	परिहारविशुद्धि संयम का लक्षण	116
90.	सूक्ष्मसांपराय संयम का लक्षण	116
91.	यथाख्यात संयम का स्वरूप	117
92.	देशविरत संयम का स्वरूप	117
93.	असंयम का स्वरूप	118
94.	संयम मार्गणासार	118
	दर्शनमार्गणा	
95.	दर्शनामार्गणा का स्वरूप	121
96.	चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन का स्वरूप	121
96.	अवधिदर्शन का स्वरूप	122
97.	केवलदर्शन का स्वरूप	122
98.	दर्शनमार्गणा सार	122
	लेश्यामार्गणा	
98.	लेश्या का लक्षण	124
99.	लेश्या का नाम	124
100.	लेश्या के कार्य	125
101.	कृष्ण लेश्या का लक्षण	125
102.	नील लेश्या का लक्षण	126
103.	कापोत लेश्या का लक्षण	126
104.	पीत लेश्या का लक्षण	127
105.	पद्म लेश्या का लक्षण	128
106.	शुक्ल लेश्या का लक्षण	128
107.	लेश्या मार्गणासार	129
	भव्यत्व मार्गणा	
108.	भव्य, अभव्य का स्वरूप	133
109.	भव्य का स्वरूप	133
110.	मुक्त जीव का स्वरूप	134
111.	भव्य मार्गणा सार	135
	सम्यक्त्व मार्गणा	
111.	सम्यक्त्व का स्वरूप	136
112.	मनुष्यगति की अपेक्षा जीवों का प्रमाण	136
113.	क्षायिक स्वरूप का लक्षण	137
114.	सम्यग्दर्शन किसके यहाँ उत्पन्न	138
115.	वेदक सम्यग्दर्शन का स्वरूप	138
116.	उपशम सम्यग्दर्शन का स्वरूप	139
117.	पाँच लब्धि के नाम	140
118.	सम्यक्त्व के योग्य जीव	140
119.	अणुव्रत महाव्रत का महात्म्य	141
120.	सम्यक्त्व मार्गणा सार	141
	संज्ञी मार्गणा	
120.	संज्ञीमार्गणा का स्वरूप	144
121.	संज्ञी-असंज्ञी के चिन्ह	144
122.	संज्ञी-असंज्ञी का लक्षण	145
123.	संज्ञी मार्गणा सार	145
	आहारमार्गणा	
123.	आहार का स्वरूप	146
124.	आहारक-अनाहारक का स्वरूप	146
125.	समुद्घात के भेद	146
126.	समुद्घात का स्वरूप	147
127.	आहार मार्गणा सार	147
	उपयोग अधिकार	
127.	उपयोग का लक्षण	149
128.	उपयोग के नाम	149
129.	साकार उपयोग का लक्षण	149
130.	अनाकार उपयोग का लक्षण	150
131.	आशीर्वाद रूप गाथा	153
132.	उपयोग प्ररूपणा सार	153

ॐ

गोम्मटसार जीवकाण्ड सार

(प्रथम अधिकार)

1. गुणस्थान

अथ श्रीनेमिचंद्र सैद्धान्तिक चक्रवर्ती गोम्मटसार ग्रंथ के लिखने के पूर्व निर्विघ्नसमाप्ति, नास्तिकतापरिहार, शिष्टाचार परिपालन और उपकारस्मरण इन चार प्रयोजनों से इष्टदेव को नमस्कार करते हुए इस ग्रंथ में जो कुछ वक्तव्य है उसके 'सिद्ध' इत्यादि गाथासूत्र द्वारा कथन करने की प्रतिज्ञा करते हैं–

।।मंगलाचरण।।

सिद्धं सुद्धं पणमिय, जिणिंदवरणेमिचंदमकलंकं।
गुणरयणभूसणुदयं, जीवस्स परूवणं वोच्छं।।1।।

सिद्धं शुद्धं प्रणम्य, जिनेन्द्रवरनेमिचंद्रमकलंकम्।
गुणरत्नभूषणोदयं, जीवस्य प्ररूपणं वक्ष्ये।।1।।

अर्थ—सिद्धावस्था या स्वात्मोपलब्धि को जो प्राप्त हो चुका है अथवा न्याय के प्रमाणों से जिसकी सत्ता सिद्ध है और जो घातिया द्रव्यकर्मों के अभाव से शुद्ध तथा मिथ्यात्वादि भावकर्मों के नाश से अकलंक हो चुका है एवं जिसके सदा ही सम्यक्त्वादि गुणरूपी रत्नों के भूषणों का उदय रहता है, इस प्रकार के श्री जिनेन्द्रवर नेमिचंद स्वामी को नमस्कार करके, जो

उपदेश द्वारा पूर्वाचार्य परम्परा से चला आ रहा है इसलिए सिद्ध और पूर्वापर विरोधादि दोषों से रहित होने के कारण शुद्ध और दूसरे की निन्दा आदि न करने के कारण तथा रागादि का उत्पादक न होने से निष्कलंक है और जिससे सम्यक्त्वादि गुणरूपी रत्नभूषणों की प्राप्ति होती है—जो विकथा आदि की तरह राग का कारण नहीं है, इस प्रकार के जीवप्ररूपण नामक ग्रंथ को अर्थात् जिसमें अशुद्ध जीव के स्वरूप, भेद-प्रभेद आदि दिखाये गये हैं इस प्रकार के ग्रंथ को कहूँगा।

भावार्थ—प्रकृत गाथा का अर्थ संस्कृत टीका में 24 तीर्थंकर, श्री वर्धमान भगवान, सिद्ध परमेष्ठी, आत्मा, सिद्ध समूह, पंचपरमेष्ठी, नेमिनाथ भगवान, जीवकाण्ड ग्रंथ और श्री नेमिचंद्र सिद्धांत चक्रवर्ती इन सभी के नमस्कारपरक किया गया है। वह विशेष जिज्ञासुओं को वहीं देखना चाहिए।

प्ररूपणाएँ कितनी हैं?

गुण जीवा पज्जत्ती, पाणा सण्णा य मग्गणाओ य।
उवओगो वि य कमसो, वीसं तु परूवणा भणिदा।।2।।

गुण-जीवाः[1] पर्याप्तयः प्राणाः संज्ञाश्च मार्गणाश्च।
उपयोगो पि च क्रमशः विंशतिस्तु प्ररूपणा भणिताः।।2।।

अर्थ—गुणस्थान, जीवसमास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा, चौदह मार्गणा और उपयोग इस प्रकार ये बीस प्ररूपणा पूर्वाचार्यों ने कही हैं।

भावार्थ—इनको इसलिये प्ररूपणा कहा है कि इन्हीं के द्वारा अथवा इन विषयों का आश्रय लेकर इस ग्रंथ में जीवद्रव्य का प्ररूपण किया जाएगा। इनका लक्षण उस-उस अधिकार में स्वयं आचार्य यद्यपि करेंगे फिर भी संक्षेप में इनका स्वरूप प्रारंभ में यहाँ पर भी लिख देना उचित प्रतीत होता है। मोह और योग के निमित्त से होने वाली आत्मा के सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र गुण की अवस्थाओं को गुणस्थान[2] कहते हैं।

---

1. नाम के एकदेश से भी सम्पूर्ण नाम का बोध होता है। अतएव यहाँ पर गुण शब्द से गुणस्थान और जीवशब्द से जीवसमास समझना चाहिये।
2. गुणस्थानों में सम्यग्दर्शन और चारित्र प्रधान हैं।

जिन सदृश धर्मों के द्वारा अनेक जीवों का संग्रह किया जा सके, उन सदृश धर्मों का नाम जीवसमास है। गृहीत आहारवर्गणाओं को खल, रस भाग आदि के रूप में परिणत करने की शक्ति विशेष की पूर्णता को पर्याप्ति कहते हैं। जिनका संयोग रहने पर ''यह जीता है'' और वियोग होने पर ''यह मर गया'' इस तरह का जीव में व्यवहार हो, उनको प्राण कहते हैं। आहारादि की वांछा को संज्ञा कहते हैं। जिनके द्वारा विवक्षित अनेक अवस्थाओं में स्थित जीवों का ज्ञान हो, उनको मार्गणा कहते हैं। बाह्य तथा अभ्यन्तर कारणों के द्वारा होने वाली आत्मा के चेतना गुण की सामान्य—निराकार अथवा विशेष—साकार परिणति विशेष को उपयोग कहते हैं।

भावार्थ—इस गाथा में तीन ''च'', एक ''अपि'' और एक ''तु'' का जो उल्लेख है, उनमें से संज्ञा के साथ आया हुआ पहला ''च'' शब्द अपने पूर्व की गुणस्थानादि पाँचों ही प्ररूपणाओं का समुच्चय अर्थ सूचित करता है, क्योंकि ये समुच्चय रूप एक-एक प्ररूपणा हैं। ''मार्गणा'' शब्द बहुवचनान्त है और उसके साथ भी ''च'' का प्रयोग है। अतएव एक ही मार्गणामहाधिकार की 14 गति आदि प्ररूपणा हैं। उनमें से प्रत्येक का अधिकार रूप से यहाँ समुच्चय रूप में प्ररूपण किया गया है, ऐसा समझना चाहिए। उपयोग शब्द के साथ ''अपि'' और ''च'' का प्रयोग है, यह इस बात को सूचित करता है कि यह भी एक स्वतंत्र प्ररूपणाधिकार है और अन्य गुणस्थानादि 19 अधिकारों की अपेक्षा जीव अथवा आत्मा का लक्षण होने से अपनी असाधारणता रखता है, क्योंकि मृग्य जीवों के मार्गयिता तत्त्व श्रद्धालु भव्य जीव के लिए मार्गण—अन्वेषण में मार्गणाएँ करण या अधिकरण हैं किन्तु उपयोग सभी जीवों में पाया जाने वाला असाधारण लक्षण होने से मार्गणा का सामान्य एवं महान उपाय है।

''तु'' शब्द इस बात को सूचित करता है कि सामान्य से तो एक ही प्ररूपणा है परन्तु विशेषापेक्षा उसके संक्षिप्त रुचि वालों की अपेक्षा दो भेद हैं और मध्यम रुचि वालों की अपेक्षा से ये बीस भेद हैं। दो भेदों में बीस का अन्तर्भाव किस तरह हो जाता है यह आगे बताया जाएगा।

इस गाथा में कही गई ये बीस प्ररूपणाएँ वे ही हैं जिनके कि आशय

को गर्भित करके पुष्पदंताचार्य ने षट्खंडागम की रचना को प्रारंभ किया था और जिनपालित को पहले दीक्षा देकर फिर अपने रचित ''संतसुत्तविवरण'' को पढ़ाकर अपने साध्यायी मुनिपुंगव भगवान भूतबलि के पास भेजा था[1] जिस पर से कि श्री भूतबलि द्वारा पूर्ण षट्खंडागम की रचना हुई जो कि इस जीवकाण्ड का भी मूल आधार है।

गुणस्थान व मार्गणा के पर्यायवाची नाम

संखेओ ओघो त्ति य, गुणसण्णा सा च मोहजोगभवा।
वित्थारादेसो त्ति य, मग्गणसण्णा सकम्मभवा।।3।।

संक्षेप ओघ इति, गुणसंज्ञा सा च मोहयोगभवा।
विस्तार आदेश इति च, मार्गण संज्ञा स्वकर्मभवा।।3।।

अर्थ—संक्षेप और ओघ यह गुणस्थान की संज्ञा है और वह मोह तथा योग के निमित्त से उत्पन्न होती है। इसी तरह विस्तार तथा आदेश यह मार्गणा की संज्ञा है और वह भी अपने-अपने योग्य कर्मों के उदयादि से उत्पन्न होती है। यहाँ पर चकार का ग्रहण है इससे गुणस्थान की सामान्य और मार्गणा की विशेष यह भी संज्ञा समझनी[2] चाहिए।

यहाँ पर यह शंका हो सकती है कि मोह तथा योग के निमित्त से गुणस्थान उत्पन्न होते हैं, न कि 'गुणस्थान' यह संज्ञा, फिर संज्ञा को 'मोहयोगभवा' (मोह और योग से उत्पन्न) क्यों कहा ? इसका उत्तर यह है कि यद्यपि परमार्थ से मोह और योग के द्वारा गुणस्थान ही उत्पन्न होते हैं न कि गुणस्थान संज्ञा तथापि यहाँ पर वाच्य-वाचक में कथंचित् अभेद मानकर

---

1. तदो पुप्फयन्ताइरिएण जिणवालिदस्स दिक्खं दाऊण वीसदिसुत्ताणि करिय पढावियपुणो से भूदवलिभयवंतस्स पासं पेसिदो। भूदवलिभयवदा जिणवालिदपसे दिदठवीसदिसुत्तेण अप्पाउ ओ त्ति अवगयजिणवालिदेण महाकम्मपयडिपाहुडस्स वोच्छेदौ होहदि त्ति समुप्पण्णबुद्धिणा पुणो दव्वपमाणाणुगममादिं काऊण गंथरचणा कदा।। धवला पृ.71।।
2. गुणस्थानों का बोध 'जीवसमास' शब्द से भी होता है। देखो संतसुत्तविवरण का सूत्र नं. 2 और उसकी धवला टीका तथा 'द्रव्यसंग्रह' की गाथा नं.-13 की टीका। एवं गोम्मटसार जी.का. गाथा नं. 10 जीवसमास शब्द से गुणस्थान, मार्गणास्थान और जीवसमास स्थान तीनों का ग्रहण होता है क्योंकि समास का अर्थ होता है सामान्य या संक्षेप जो कि सभी में घटित हो जाता है।

उपचार से संज्ञा को भी ''मोहयोगभवा'' कह दिया है।

भावार्थ—यद्यपि मोक्षमार्ग सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इस तरह रत्नत्रयरूप है किन्तु गुणस्थानों के निर्माण में सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र दो प्रधान हैं जैसा कि ''मोहयोगभवा'' इस लक्षण पद से मालूम होता है।

गुणस्थान का सामान्य लक्षण

जेहिं दु लक्खिज्जंते, उदयादिसु संभवेहिं भावेहिं।
जीवा ते गुणसण्णा, णिद्दिट्ठा सव्वदरसीहिं[1]।।4।।

यैस्तु लक्ष्यन्ते उदयादिषु सम्भवैर्भावैः।
जीवास्ते गुणसंज्ञा निर्दिष्टाः सर्वदर्शिभिः।।4।।

अर्थ—दर्शनमोहनीय आदि कर्मों की उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम आदि अवस्था के होने पर होने वाले जिन परिणामों से युक्त जो जीव देखे जाते हैं उन जीवों को सर्वज्ञदेव ने उसी गुणस्थान वाला और उन परिणामों को गुणस्थान कहा है।

भावार्थ—जिस प्रकार किसी जीव के दर्शनमोहनीय कर्म की मिथ्यात्वप्रकृति के उदय से मिथ्यात्व (मिथ्यादर्शन) रूप परिणाम हुए तो उस जीव को मिथ्यादृष्टि[2] और उस मिथ्यादर्शन रूप परिणाम को मिथ्यात्व गुणस्थान कहा जाएगा। गुणस्थान यह अन्वर्थ संज्ञा[3] है, क्योंकि विवक्षित कर्मों के उदयादि से होने वाले पाँच प्रकार के जीव के भाव गुणशब्द से अभिप्रेत हैं। उन्हीं के स्थानों को गुणस्थान कहते हैं। यहाँ पर मुख्यतया मोहनीय कर्म के उदय आदिक से होने वाले भाव ही लिए हैं। मोहनीय के दो भेद हैं—दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय। इनमें से किन-किन गुणस्थानों

1. यह गाथा संतसुत्त विवरण के सूत्र नं. 8 की धवला में भी ''उक्तं च'' करके नं. 104 पर उद्धृत की गई है।
2. गुणसहचरितत्वादात्मापि गुणसंज्ञां प्रतिलभते।। संतसुत्त पृ.161।।
3. अनेन (गुणशब्द निरूक्तिप्रधानसूत्रेण) मिथ्यात्वादयोऽयोगिकेवलिपर्यन्ता जीवपरिणामविशेषास्त एवं गुणस्थानानीति प्रतिपादितं भवति। जी.प्र.।। यैर्भावैः औदयिकादिभिर्मिथ्यादर्शनादिभिः परिणामैः जीवा गुण्यन्ते.....ते भावा गुणसंज्ञाः सर्वदर्शिभिः निर्दिष्टाः।।मं.प्र.।।

में दर्शनमोहनीय के उदयादि की और किन-किन में चारित्र मोहनीय के उपशमादि की अपेक्षा है यह बात मूल ग्रंथ में गाथा नं. 11 से 14 तक में बताई गई है।

विवक्षित पाँच भावों का स्वरूप संक्षेप में इस प्रकार है—कर्मों के उदय से होने वाले औदयिक, उपशम से होने वाले औपशमिक, क्षय से होने वाले क्षायिक, क्षयोपशम से होने वाले क्षायोपशमिक और जिनमें उदयादिक चारों ही प्रकार के कर्म की अपेक्षा न हो, वे पारिणामिक भाव हैं, इन्हीं को गुण कहते हैं। तत्त्वार्थ सूत्र की दूसरी अध्याय में इन्हीं को जीव के स्वतत्त्व नाम से बताया है।

गुणस्थानों के नाम

मिच्छो सासण मिस्सो, अविरदसम्मो य देसविरदो य।
विरदा पमत्त इदरो, अपुव्व अणियट्टि सुहमो य।।5।।

मिथ्यात्वं सासन मिश्र अविरतसम्यक्त्वं च देशविरतश्च।
विरताः प्रमत्त इतरः अपूर्वः अनिवृत्तिः सूक्ष्मश्च।।5।।

अर्थ—1. मिथ्यात्व 2. सासन 3. मिश्र 4. अविरतसम्यग्दृष्टि 5. देशविरत 6. प्रमत्तविरत 7. अप्रमत्तविरत 8. अपूर्वकरण 9. अनिवृत्तिकरण 10. सूक्ष्म साम्पराय।

इस सूत्र में चौथे गुणस्थान के साथ जो अविरत शब्द है वह अन्त्यदीपक है अतएव पहले के तीनों गुणस्थानों में भी अविरतपना समझना चाहिए। इसी प्रकार छट्ठे प्रमत्त गुणस्थान के साथ जो विरत शब्द है वह आदि दीपक है इसलिये यहाँ से लेकर सम्पूर्ण गुणस्थान विरत ही होते हैं, ऐसा समझना चाहिए।

उवसंत खीणमोहो, सजोगकेवलिजिणो अजोगी य।
चउदस जीवसमासा, कमेण सिद्धा य णादव्वा।।6।।

उपशान्तः क्षीणमोहः सयोगकेवलिजिनः अयोगी च।
चतुर्दश जीवसमासाः क्रमेण सिद्धाश्च ज्ञातव्याः।।6।।

अर्थ—11. उपशांत मोह, 12. क्षीणमोह, 13. सयोगिकेवलिजिन

और 14. अयोगिकेवली जिन ये चौदह जीवसमास (गुणस्थान) हैं और सिद्ध इन जीवसमासों-गुणस्थानों से रहित हैं।

भावार्थ—इस सूत्र में क्रमेण शब्द जो पड़ा है उससे यह सूचित होता है कि जीव के सामान्यतया दो भेद हैं—एक संसारी, दूसरा मुक्त। मुक्त अवस्था संसारपूर्वक ही हुआ करती है। संसारियों के गुणस्थानों की अपेक्षा चौदह भेद हैं। इसके अनंतर क्रम से गुणस्थानों से रहित मुक्त या सिद्ध अवस्था प्राप्त होती है। इस प्रकार क्रमेण शब्द के द्वारा एक ही जीव की क्रम से होने वाली दो—संसार और सिद्ध—मुक्त अवस्थाओं के कथन से यह भी सूचित हो जाता है कि जो कोई ईश्वर को अनादि मुक्त बताते हैं अथवा आत्मा को सदा कर्मरहित या मुक्तस्वरूप मानते हैं या मोक्ष में जीव का निरन्वय विनाश कहते हैं, सो ठीक नहीं है।

इस गाथा में सयोग शब्द अन्त्यदीपक है इसलिये पूर्व के मिथ्यादृष्ट्यादि सब ही गुणस्थानवर्ती जीव योग सहित होते हैं। ''जिन'' शब्द मध्यदीपक है इससे असंयत सम्यग्दृष्टि से लेकर अयोगीपर्यन्त सभी जिन होते हैं। केवली शब्द आदि दीपक है अतएव सयोगी, अयोगी तथा सिद्ध तीनों ही केवली होते हैं, यह सूचित होता है।

मिथ्यात्वगुणस्थान का लक्षण

मिच्छोदयेण मिच्छत्तमसद्दहणं तु[1] तच्च अत्थाणं।
एयंतं विवरीयं, विणयं संसयिदमण्णाणं।।7।।

मिथ्यात्वोदयेन मिथ्यात्वमश्रद्धानं तु तत्त्वार्थानाम्।
एकान्तं विपरीतं विनयं संशयितमज्ञानम्।7।।

अर्थ—मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से होने वाले तत्त्वार्थ के अश्रद्धान को मिथ्यात्व कहते हैं। इसके पाँच भेद हैं—एकान्त, विपरीत, विनय, संशयित और अज्ञान।

अनेक धर्मात्मक पदार्थ को किसी एक धर्मात्मक मानना, इसको

1. गाथा में प्रयुक्त 'तु' शब्द के कारण दो तरह से अर्थ करना चाहिए। तत्त्वार्थ का अश्रद्धान इससे सिवाय अतत्त्वार्थ का श्रद्धान ऐसा भी एक अर्थ करना चाहिए।

एकांत मिथ्यात्व कहते हैं। जैसे वस्तु सर्वथा क्षणिक ही है अथवा नित्य ही है, वक्तव्य ही है अथवा अवक्तव्य ही है।

धर्मादिक के स्वरूप को विपर्ययरूप मानना, इसको विपरीत मिथ्यात्व कहते हैं। जैसे यह मानना कि हिंसा से स्वर्गादिक की प्राप्ति होती है।

सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि देव, गुरु तथा उनके कहे हुए शास्त्रों में समान बुद्धि रखने और उनका समान सत्कारादि करने को विनय मिथ्यात्व कहते हैं। जैसे–जिन और बुद्ध तथा उनके धर्म को समान समझना तथा उनका समान सत्कारादि करना। इसके सिवाय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप मोक्षमार्ग की अपेक्षा न रखकर केवल गुरुओं के विनय से ही मोक्ष होता है, ऐसा मानना भी विनय मिथ्यात्व है।

समीचीन तथा असमीचीन दोनों प्रकार के पदार्थों में से किसी भी एक पक्ष का निश्चय न होना इसको संशयमिथ्यात्व कहते हैं। जैसे—सग्रंथ लिंग मोक्ष का साधन है या यागादिकर्म, इसी तरह कर्मों के सर्वथा अभाव से प्रकट होने वाली अनंतगुण विशिष्ट आत्मा की शुद्ध अवस्था विशेष को मोक्ष कहते हैं, यद्वा बुद्धि-सुख-दुःखादि विशेष गुणों के उच्छेद को मोक्ष कहते हैं।

जीवादि पदार्थों को 'यही है, इसी प्रकार से है' इस तरह विशेषरूप से न समझने को अज्ञान मिथ्यात्व कहते हैं।

सासादन गुणस्थान का स्वरूप

आदिमसम्मत्तद्धा, समयादो छावली त्ति वा सेसे।
अणअण्णदरूदयादो, णासियसम्मो त्ति सासणक्खो सो।।8।।

आदिमसम्यक्त्वाद्धा, आसमयतः षडावलिरिति वा शेषे।
अनान्यतरोदयात्, नाशितसम्यक्त्व इति सासनाख्यः सः।।8।।

अर्थ—प्रथमोपशम सम्यक्त्व के अथवा यहाँ पर वा शब्द का ग्रहण किया है, इसलिये द्वितीयोपशम सम्यक्त्व के अंतर्मुहूर्त मात्र काल में से जब जघन्य एक समय तथा उत्कृष्ट छह आवली प्रमाण शेष रहे, उतने काल में अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ में से किसी के भी उदय में आने से

सम्यक्त्व की विराधना होने पर सम्यग्दर्शन गुण की जो अव्यक्त अतत्त्वश्रद्धानरूप परिणति होती है, उसको सासन या सासादन गुणस्थान कहते हैं।

मिश्रगुणस्थान का लक्षण

सम्मामिच्छुदयेणय, जत्तंतरसव्वघादिकज्जेण।
ण य सम्मं मिच्छं पि य, सम्मिस्सो होदि परिणामो।।9।।

सम्यग्मिथ्यात्वोदयेन च, जात्यन्तरसर्वघातिकार्येण।
न च सम्यक्त्वं मिथ्यात्वमपि च, सम्मिश्रो भवति परिणामः।।9।।

अर्थ—जिसका प्रतिपक्षी आत्मा के गुण को सर्वथा घातने का कार्य दूसरी सर्वघाति प्रकृतियों से विलक्षण जाति का है, उस जात्यन्तर सर्वघाति सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से केवल सम्यक्त्वरूप या मिथ्यात्वरूप परिणाम न होकर जो मिश्ररूप परिणाम होता है, उसको तीसरा मिश्रगुणस्थान कहते हैं।

शंका—यह तीसरा गुणस्थान बन नहीं सकता, क्योंकि मिश्ररूप परिणाम ही नहीं हो सकते। यदि विरुद्ध दो प्रकार के परिणाम एक ही आत्मा और एक ही काल में माने जाएँ तो शीत-उष्ण की तरह परस्पर सहानवस्थान लक्षण विरोध दोष आवेगा। यदि क्रम से दोनों परिणामों की उत्पत्ति मानी जाय, तो मिश्ररूप तीसरा गुणस्थान नहीं बनता ?

समाधान—यह शंका ठीक नहीं है क्योंकि मित्रामित्रन्याय से एक काल और एक ही आत्मा में मिश्ररूप परिणाम हो सकते हैं।

भावार्थ—जिस प्रकार देवदत्त नामक किसी मनुष्य में यज्ञदत्त की अपेक्षा मित्रपना और चैत्र की अपेक्षा अमित्रपना ये दोनों धर्म एक ही काल में रहते हैं और उनमें कोई विरोध नहीं है, उस ही प्रकार सर्वज्ञ निरूपित पदार्थ में स्वरूप के श्रद्धान की अपेक्षा समीचीनता और सर्वज्ञाभास कथित अतत्त्व श्रद्धान की अपेक्षा मिथ्यापना, ये दोनों ही धर्म एक काल और एक आत्मा में घटित हो सकते हैं इसमें कोई भी विरोधादि दोष नहीं है।

चतुर्थगुणस्थान का लक्षण

सम्मत्तदेसघादिस्सुदयादो वेदगं हवे सम्मं।
चलमलिनमगाढं तं, णिच्चं कम्मक्खवणहेदु ।।10।।

सम्यक्त्वदेशघातेरुदयाद्वेदकं भवेत्सम्यक्त्वम्।
चलं मलिनमगाढं, तन्नित्यं कर्मक्षपणहेतु।।10।।

अर्थ—सम्यग्दर्शनगुण को विपरीत करने वाली प्रकृतियों में से देशघाति सम्यक्त्व प्रकृति के उदय होने पर (तथा अनंतानुबंधिचतुष्क और मिथ्यात्व मिश्र इन सर्वघाति प्रकृतियों के आगामी निषेकों का सदवस्थारूप उपशम और वर्तमान निषेकों की बिना फल दिए ही निर्जरा होने पर) जो आत्मा के परिणाम होते हैं उनको वेदक या क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन कहते हैं। वे परिणाम चल, मलिन या अगाढ़ होते हुए भी नित्य ही अर्थात् जघन्य अंतर्मुहूर्त से लेकर उत्कृष्ट छ्यासठ सागर पर्यन्त कर्मों की निर्जरा के कारण हैं।

जिस प्रकार एक ही जल अनेक कल्लोलरूप में परिणत होता है, उस ही प्रकार जो सम्यग्दर्शन सम्पूर्ण तीर्थंकर या अर्हन्तों में समान अनंत शक्ति के होने पर भी "श्रीशांतिनाथ जी शांति के लिये और श्रीपार्श्वनाथ जी रक्षा करने के लिए समर्थ हैं" इस तरह नाना विषयों में चलायमान होता है उसको चल सम्यग्दर्शन कहते हैं। जिस प्रकार शुद्ध सुवर्ण भी मल के निमित्त से मलिन कहा जाता है, उस ही तरह सम्यक्त्व प्रकृति के उदय से जिसमें पूर्ण निर्मलता नहीं है उसको मलिन सम्यग्दर्शन कहते हैं। जिस तरह वृद्ध पुरुष के हाथ में ठहरी हुई भी लाठी काँपती है उस ही तरह जिस सम्यग्दर्शन के होते हुए भी अपने बनवाये हुए मंदिरादि में "यह मेरा मंदिर है" और दूसरे के बनवाये हुए मंदिरादि में "यह दूसरे का है" ऐसा भाव हो, उसको अगाढ़ सम्यग्दर्शन कहते हैं।

भावार्थ—उपशम के प्रशस्त और अप्रशस्त इस तरह दो प्रकार हैं। विवक्षित प्रकृति यदि उदय योग्य न हो और स्थिति, अनुभाग, उत्कर्षण, अपकर्षण तथा संक्रमण के योग्य हो तो उस उपशम को अप्रशस्त कहते हैं तथा जहाँ पर विवक्षित प्रकृति उदय योग्य भी न हो और उत्कर्षण, अपकर्षण

एवं संक्रमणयोग्य भी न हो तो वहाँ प्रशस्त उपशम कहा जाता है। अनंतानुबंधी कषाय का अप्रशस्तोपशम अथवा विसंयोजन होने पर एवं दर्शनमोहनीय की मिथ्यात्व और मिश्र प्रकृति का प्रशस्त या अप्रशस्त उपशम अथवा क्षयोन्मुखता के होने पर और सम्यक्त्व प्रकृति के देशघाति स्पर्धकों का उदय होने पर जो तत्त्वार्थ श्रद्धानरूप परिणाम होते हैं, उनको ही वेदक या क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं। यहाँ पर जीव सम्यक्त्व प्रकृति के उदय का वेदन–अनुभवन करता है, इसलिये इसको वेदक कहते हैं।

गाथा में आए हुए नित्य शब्द का अभिप्राय अविनश्वर नहीं किन्तु अंतर्मुहूर्त से लेकर छ्यासठ सागर तक के काल के प्रमाण से है जैसा कि ऊपर बताया गया है अथवा इसका आशय ऐसा भी हो सकता है कि कर्मों के क्षपण का यह करण—असाधारण कारण है। यह बात केवल इस क्षायोपशमिक सम्यक्त्व के विषय में ही नहीं किन्तु वक्ष्यमाण औपशमिक एवं क्षायिक के विषय में भी समझनी चाहिए क्योंकि सम्यग्दर्शन के साहचर्य के बिना संवर निर्जरा नहीं हो सकती, यह ध्रुव नियम है। इस ध्रुव नियम को स्पष्ट करना ही नित्य शब्द का अभिप्राय है। इससे मोक्षमार्ग में सम्यग्दर्शन की असाधारणता सूचित हो जाती है तथा यह भी विशेषता व्यक्त होती है कि इस क्षायोपशमिक सम्यक्त्व के वेदक अथवा समल होते हुए भी वह कर्मक्षपण का कारण है। ध्यान रहे कि चतुर्थ गुणस्थान से लेकर ऊपर के सभी गुणस्थानों में होने वाली विशिष्ट निर्जरा का मूल कारण सम्यग्दर्शन ही है।

सम्माइट्ठी जीवो, उवइट्ठं पवयणं तु सद्दहदि।
सद्दहदि असब्भावं, अजाणमाणो गुरूणियोगा[1]।।11।।

सम्यग्दृष्टिर्जीव उपदिष्टं, प्रवचनं तु श्रद्दधाति।
श्रद्दधात्यसद्भावमज्ञायमानो गुरुनियोगात्।।11।।

अर्थ—सम्यग्दृष्टि जीव आचार्यों के द्वारा उपदिष्ट प्रवचन का श्रद्धान करता है किन्तु अज्ञानतावश गुरु के उपदेश से विपरीत अर्थ का भी श्रद्धान कर लेता है।

1. संतसु., धवला गाथा नं. 110-111।

भावार्थ—स्वयं के अज्ञानवश 'अरिहंतदेव का ऐसा ही उपदेश' है ऐसा समझकर यदि कदाचित् किसी पदार्थ का विपरीत श्रद्धान भी करता है तो भी वह सम्यग्दृष्टि ही है क्योंकि उसने अरिहंत का उपदेश समझकर उस पदार्थ का वैसा श्रद्धान किया है। परन्तु—

सुत्तादो तं सम्मं, दरसिज्जंतं जदा ण सद्दहदि।
सो चेव हवइ मिच्छाइट्ठी जीवो तदो पहुदी।।12।।

सूत्रात्तं सम्यक् दर्शयन्तं, यदा न श्रद्दधाति।
स चैव भवति मिथ्यादृष्टिर्जीवस्तदा प्रभृति।।12।।

अर्थ—गणधरादिकथित सूत्र के आश्रय से आचार्यादि के द्वारा भले प्रकार समझाए जाने पर भी यदि वह जीव उस पदार्थ का समीचीन श्रद्धान न करे तो वह जीव उस ही काल से मिथ्यादृष्टि हो जाता है।

भावार्थ—आगम दिखाकर समीचीन पदार्थ के समझाने पर भी यदि वह जीव पूर्व में अज्ञान से किए हुए अतत्त्वश्रद्धान को न छोड़े, तो वह जीव उस ही काल से मिथ्यादृष्टि कहा जाता है।

इसी चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव के असंयत विशेषण की अपेक्षा को दृष्टि में रखकर उसके आशय को स्पष्ट करने के लिये विशेष स्वरूप दिखाते हैं।

णो इंदियेसु विरदो, णो जीवे थावरे तसे वापि।
जो सद्दहदि जिणुत्तं, सम्माइट्ठी अविरदो[1] सो।।13।।

नो इंद्रियेषु विरतो, नो जीवे स्थावरे त्रसे वापि।
यः श्रद्दधाति जिनोक्तं, सम्यग्दृष्टिरविरतः सः।।13।।

अर्थ—जो इंद्रियों के विषयों से तथा त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा से विरक्त नहीं है किन्तु जिनेन्द्रदेव द्वारा कथित प्रवचन का श्रद्धान करता है वह अविरत सम्यग्दृष्टि है।

भावार्थ—संयम दो प्रकार का होता है—एक इंद्रिय संयम, दूसरा

1. अपि शब्देन संवेगादिसम्यक्त्वगुणाः सूच्यन्ते। जी. प्र.।

प्राणीसंयम। इंद्रियों के विषयों से विरक्त होने को इंद्रिय संयम और अपने तथा पर के प्राणों की रक्षा को प्राणीसंयम कहते हैं। इस गुणस्थान में दोनों संयमों में से कोई भी संयम नहीं होता, अतएव इसको अविरतसम्यग्दृष्टि कहते हैं। परन्तु इस गुणस्थान के लक्षण में जो अपि शब्द पड़ा है उससे सूचित होता है कि वह बिना प्रयोजन किसी हिंसा में प्रवृत्त भी नहीं होता[1] क्योंकि यहाँ असंयम भाव से प्रयोजन अप्रत्याख्यानावरणादि कषाय के क्षयोपशम से पाँचवें आदि गुणस्थानों में पाए जाने वाले देशसंयम तथा आगे के संयमभाव के निषेध से है अतएव असंयत कहने का अर्थ यह नहीं है कि सम्यग्दृष्टि की प्रवृत्ति मिथ्यादृष्टि के समान अथवा अनर्गल हुआ करती है क्योंकि चतुर्थ गुणस्थान में 41 कर्मप्रकृतियों के बंध का व्युच्छित्ति के नियमानुसार अभाव हो जाया करता है अतएव 41 कर्मों के बंध की कारणभूत प्रवृत्तियाँ उसके न तो होती ही हैं और न उनका होना संभव ही है अतएव उसकी अंतरंग-बहिरंग प्रवृत्ति में नीचे के तीन गुणस्थान वालों की अपेक्षा महान अंतर हो जाया करता है।

देशविरत गुणस्थान का लक्षण

पच्चक्खाणुदयादो, संजमभावो ण होदि णवरिं तु।
थोववदो होदि तदो, देसवदो होदि पंचमओ।।14।।

प्रत्याख्यानोदयात्, संयमभावो न भवति नवरि तु।
स्तोकव्रतो भवति ततो, देशव्रतो भवति पंचमः।।14।।

अर्थ—यहाँ पर प्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय रहने से पूर्ण संयम तो नहीं होता, किन्तु यहाँ इतनी विशेषता होती है कि अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय न रहने से एकदेश व्रत होते हैं अतएव इस गुणस्थान का नाम देशव्रत या देशसंयम है। इसी को पाँचवाँ गुणस्थान कहते हैं।

भावार्थ—प्रत्याख्यान शब्द का अर्थ त्याग–पूर्णत्याग–सकलसंयम होता है। उसको आवृत करने वाली कषाय को प्रत्याख्यानावरण कहते हैं। नाम के एकदेश का उच्चारण करने पर पूरे नाम का बोध हो जाता है, इसी

1. अपिशब्देनानुकम्पादिगुणसद्भावान्निरपराधहिंसां न करोतीति सूच्यते। मन्दप.।

न्याय से यहाँ गाथा में प्रत्याख्यान शब्द का प्रयोग प्रत्याख्यानावरण के लिये किया गया है। यह हेतुवाक्य है। इससे एकदेश संयम और चारित्र की अपेक्षा यहाँ पाया जाने वाला क्षायोपशमिक भाव ये दो बातें सूचित होती हैं क्योंकि तृतीय कषाय के उदय का मुख्यतया उल्लेख नीचे की अनंतानुबंधी और अप्रत्याख्यानावरणचतुष्क इन आठ कषायों के उदय के अभाव को व्यक्त करता है।

छट्ठे गुणस्थान का लक्षण

संजलणणोकसायाणुदयादो संजमो हवे जम्हा।
मलजणणपमादो वि य, तम्हा हु पमत्तविरदो सो।।15।।

संज्वलननोकषायाणामुदयात् संयमो भवेद्यस्मात्।
मलजननप्रमादो पि च तस्मात् खलु प्रमत्तविरतः सः।।15।।

अर्थ—सकल संयम को रोकने वाली प्रत्याख्यानावरण कषाय का क्षयोपशम होने से पूर्ण संयम तो हो चुका है किन्तु उस संयम के साथ-साथ संज्वलन और नोकषाय का उदय रहने से संयम में मल को उत्पन्न करने वाला प्रमाद भी होता है अतएव इस गुणस्थान को प्रमत्तविरत कहते हैं।

भावार्थ—चौदह गुणस्थानों में यह छट्ठा गुणस्थान है परन्तु पूर्ण संयम जिनमें पाया जाता है, उनमें यह सबसे पहला है। यहाँ पर पूर्ण संयम के साथ प्रमाद भी पाया जाता है। यह प्रमाद संज्वलन कषाय के तीव्र उदय से हुआ करता है। आगे के गुणस्थानों में उसका मंद, मंदतर, मंदतम उदय हुआ करता है। संज्वलन के तीव्र उदय में भी प्रत्याख्यानावरण के अभाव से प्रकट हुए सकल संयम का घात करने की सामर्थ्य नहीं है, उससे प्रमादरूप मल ही उत्पन्न हो सकता है। इस गुणस्थान में भी औदयिकादि पाँच भावों में से चारित्र की अपेक्षा केवल क्षायोपशमिक भाव ही है किन्तु सम्यक्त्व की अपेक्षा पाँचवें गुणस्थान के समान औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक इन तीन में से कोई भी एक भाव–सम्यग्दर्शन अवश्य पाया जाता है क्योंकि यहाँ द्रव्यसंयम की नहीं, अपितु भावसंयम की ही अपेक्षा है। यद्यपि यहाँ संज्वलन का उदय पाया जाता है फिर भी औदयिकभाव अभीष्ट–विवक्षित

नहीं है क्योंकि सकल संयम जो यहाँ हुआ है, वह संज्वलन के उदय से नहीं किन्तु प्रत्याख्यानावरण के क्षयोपशम से हुआ है।

पंद्रह प्रमाद

विकहा तहा कसाया, इंदिय णिद्दा तहेव पणयो च।
चदु चदु पणमेगेगं, होंति पमादा हु पण्णरस।।16।।

विकथास्तथा कषाया, इंद्रियनिद्रास्तथैव प्रणयश्च।
चतुः चतुः पंचैकैकं, भवन्ति प्रमादाः खलु पंचदश।।16।।

अर्थ—चार विकथा—स्त्रीकथा, भक्तकथा, राष्ट्रकथा, अवनिपालकथा। चार कषाय—क्रोध, मान, माया, लोभ। पंच इंद्रिय—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत। एक निद्रा और एक प्रणय—स्नेह। इस तरह कुल मिलाकर प्रमादों के पंद्रह भेद हैं।

भावार्थ—संयम के विरोधी कथा या वाक्य प्रबंध को विकथा, इसी प्रकार जिससे संयम गुण का घात हो ऐसे क्रोध, मान, माया, लोभरूप परिणाम को कषाय, स्पर्शनादि इंद्रियों के द्वारा अपने-अपने स्पर्शादि विषय में रागभाव के होने को इंद्रिय, स्त्यानगृद्धि आदि तीन कर्मों के उदय से अथवा निद्रा और प्रचला के तीव्र उदय से अपने विषय में सामान्य ग्रहण को रोकने वाली जो जाड्यावस्था उत्पन्न होती है उसको निद्रा, बाह्य पदार्थों में ममत्व परिणाम को अथवा तीव्र हास्यादि नोकषायों के उदय से होने वाले संक्लेश परिणाम को प्रणय कहते हैं। ध्यान रहे कि यहाँ पर संज्वलन और तत्संबंधी नोकषाय के तीव्र उदय से होने वाले ही परिणाम प्रमाद शब्द से विवक्षित हैं। इन पंद्रह प्रमादों के कारण सम्यग्दर्शन या गुण, शील आदि कुशलानुष्ठान में असावधानी अथवा अनादर आदि भाव हो जाया करते हैं। यही प्रमाद है जो कि संयत को प्रमत्त बना देता है। यह दशा अन्तर्मुहूर्त से अधिक काल तक नहीं रहा करती, उसके बाद अप्रमत्त गुणस्थान[1] हो जाया करता है और इन दोनों गुणस्थानों में इसी तरह हजारों बार परिवर्तन होता रहता है।

1. कारणवश नीचे की कषाय का उदय हो जाने पर नीचे के भी गुणस्थान हो जाया करते हैं क्योंकि छट्ठे गुणस्थान वाले के छह मार्ग हैं—एक ऊपर का सातवाँ और नीचे के पाँचों गुणस्थान। देखो चर्चाशतक पद्य 44।।

सप्तम गुणस्थान का स्वरूप

संजलणणोकसायाणुदओ मंदो जदा तदा होदि।
अपमत्तगुणो तेण य, अपमत्तो संजदो होदि।।17।।

संज्वलननोकषायाणामुदयो मन्दो यदा तदा भवति।
अप्रमत्तगुणस्तेन च, अप्रमत्तः संयतो भवति।।17।।

अर्थ—जब संज्वलन और नोकषाय का मंद उदय होता है तब सकल संयम से युक्त मुनि के प्रमाद का अभाव हो जाता है, इस ही लिये इस गुणस्थान को अप्रमत्तसंयत कहते हैं। इसके दो भेद हैं—स्वस्थानाप्रमत्त एवं दूसरा सातिशयाप्रमत्त।

छट्ठे गुणस्थान में संयत का प्रमत्त विशेषण अन्त्यदीपक है अतएव यहाँ तक के सभी गुणस्थान वाले जीव प्रमादसहित हुआ करते हैं और इससे ऊपर के गुणस्थान वाले सभी जीव प्रमादरहित ही होते हैं। यही कारण है कि सातवें गुणस्थान का नाम अप्रमत्तसंयत है।

प्रश्न हो सकता है कि जब ऊपर के यहाँ से आगे के सभी गुणस्थान संयत और अप्रमत्त हैं तब अप्रमत्तसंयत इस नाम से सभी गुणस्थानों का ग्रहण हो जाएगा, अतएव आठवें आदि गुणस्थानों के भिन्न-भिन्न नामनिर्देश की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर—यद्यपि संज्वलन के तीव्र उदय के अभाव की अपेक्षा ऊपर के सभी गुणस्थान सामान्यरूप से अप्रमत्त हैं, फिर भी उन गुणस्थानों में होने वाले या पाए जाने वाले अन्य कार्यों का विशेषण रूप से उल्लेख करके उन-उनका भिन्न-भिन्न नाम निर्देश किया गया है।

अब अपूर्वकरण गुणस्थान को कहते हैं

अंतोमुहुत्तकालं, गमिऊण अधापवत्तकरणं तं।
पडिसमयं सुज्झंतो, अपुव्वकरणं समल्लियइ।।18।।

अन्तर्मुहूर्त कालं गमयित्वा, अधः प्रवृत्तकरणं तत्।
प्रतिसमयं शुद्धयन्, अपूर्वकरणं समाश्रयति।।18।।

अर्थ—जिसका अंतर्मुहूर्त मात्र काल है, ऐसे अधःप्रवृत्तकरण को बिताकर वह सातिशय अप्रमत्त जब प्रतिसमय अनंतगुणी विशुद्धि को लिये हुए अपूर्वकरण जाति के परिणामों को करता है, तब उसको अपूर्वकरणनामक अष्टमगुणस्थानवर्ती कहते हैं।

भावार्थ—यहाँ विशुद्धि शब्द उपलक्षण मात्र होने से प्रशस्त प्रकृतियों के चतुःस्थानी अनुभाग की अनंतगुणी वृद्धि, अप्रशस्त प्रकृतियों के द्विस्थानी अनुभाग की अनंतगुणी हानि तथा बध्यमान कर्मों के संख्यात हजार स्थिति बंधापसरण भी सूचित होते हैं क्योंकि यहाँ पर अनंतगुणी विशुद्धि के साथ चार आवश्यक माने गए हैं।

नवमें गुणस्थान का स्वरूप

एकह्मि कालसमये, संठाणादीहिं जह णिवट्टंति।
ण णिवट्टंति तहावि य, परिणामेहिं मिहो जेहिं।।19।।
होंति अणियट्टिणो ते, पडिसमयंजेस्सिमेक्कपरिणामा।
विमलयरझाणहुयवहसिहाहिं णिद्दड्ढकम्मवणा।।20।।

।।जुम्मम्।।

एकस्मिन् कालसमये, संस्थानादिभिर्यथा निवर्तन्ते।
न निवर्तन्ते तथापि च परिणामैर्मिथो यैः।।19।।
भवन्ति अनिवर्तिनस्ते प्रतिसमयं येषामेकपरिणामाः।
विमलतरध्यानहुतवहशिखाभिर्निर्दग्धकर्मवनाः।।20।।युग्मम्।।

अर्थ—अंतर्मुहूर्तमात्र अनिवृत्तिकरण के काल में से आदि या मध्य या अंत के एक समयवर्ती अनेक जीवों में जिस प्रकार शरीर की अवगाहना आदि बाह्य कारणों से तथा ज्ञानावरणादिक कर्म के क्षयोपशमादि अंतरंग कारणों से परस्पर में भेद पाया जाता है, उस प्रकार जिन परिणामों के निमित्त से परस्पर में भेद नहीं पाया जाता, उनको अनिवृत्तिकरण कहते हैं। अनिवृत्तिकरण गुणस्थान का जितना काल है उतने ही उसके परिणाम हैं। इसलिए उसके काल के प्रत्येक समय में अनिवृत्तिकरण का एक ही परिणाम होता है तथा ये परिणाम अत्यंत निर्मल ध्यानरूप अग्नि की शिखाओं की

सहायता से कर्मवन को भस्म कर देते हैं।

भावार्थ—यहाँ पर एक समयवर्ती नाना जीवों के परिणामों में पाई जाने वाली विशुद्धि में परस्पर निवृत्ति—भेद नहीं पाया जाता अतएव इन परिणामों को अनिवृत्तिकरण कहते हैं। अनिवृत्तिकरण का जितना काल है उतने ही उसके परिणाम हैं इसलिये प्रत्येक समय में एक ही परिणाम होता है। यही कारण है कि यहाँ पर भिन्न समयवर्ती जीवों के परिणामों में सर्वथा विसदृशता और एक समयवर्ती जीवों के परिणामों में सर्वथा सदृशता ही पाई जाती है। इन परिणामों से ही आयुकर्म को छोड़कर शेष सात कर्मों की गुणश्रेणी निर्जरा, गुणसंक्रमण, स्थितिखण्डन एवं अनुभागखण्डन होता है और मोहनीय कर्म की बादर कृष्टि, सूक्ष्म कृष्टि आदि हुआ करती है।

दशवें गुणस्थान का स्वरूप

धुदकोसुंभयवत्थं, होहि जहा सुहमरायसंजुत्तं।
एवं सुहमकसाओ, सुहमसरागोत्ति णादव्वो।।21।।

धौतकौसुम्भवस्त्रं, भवति यथा सूक्ष्मरागसंयुक्तम्।
एवं सूक्ष्मकषायः सूक्ष्मसराग इति ज्ञातव्यः।।21।।

अर्थ—जिस प्रकार धुले हुए कसूमी वस्त्र में लालिमा—सुर्खी सूक्ष्म रह जाती है उसी प्रकार जो जीव अत्यन्त सूक्ष्म राग-लोभ कषाय से युक्त हैं उनको सूक्ष्म-साम्पराय नामक दशम गुणस्थानवर्ती कहते हैं।

भावार्थ—जहाँ पर पूर्वोक्त तीन करण के परिणामों से क्रम से लोभ कषाय के बिना चारित्रमोहनीय कर्म की बीस प्रकृतियों का उपशम अथवा क्षय हो जाने पर सूक्ष्म कृष्टि को प्राप्त केवल लोभ कषाय का ही उदय पाया जाए, उसको सूक्ष्मसाम्पराय नाम का दशवां गुणस्थान कहते हैं।

उपशांतकषाय गुणस्थान का स्वरूप

कदग फलजुदजलं वा, सरए सरवाणियं व णिम्मलयं।
सयलोवसंतमोहो, उवसंतकसायओ होदि।।22।।

कतक-फल-युतजलं वा, शरदि सरः पानीयं व निर्मलम्।
सकलोपशान्तमोह, उपशांतकषायको भवति।।22।।

अर्थ—निर्मली फल से युक्त जल की तरह अथवा शरद ऋतु में ऊपर से स्वच्छ हो जाने वाले सरोवर के जल की तरह सम्पूर्ण मोहनीय कर्म के उपशम से उत्पन्न होने वाले निर्मल परिणामों को उपशांतकषाय नाम का ग्यारहवाँ गुणस्थान कहते हैं।

भावार्थ—इस गुणस्थान का पूरा नाम ''उपशांतकषाय वीतराग छद्मस्थ'' है। छद्म शब्द का अर्थ है—ज्ञानावरण, दर्शनावरण। जो जीव इनके उदय की अवस्था में पाये जाते हैं वे सब छद्मस्थ हैं। छद्मस्थ भी दो तरह के हुआ करते हैं—एक सराग, दूसरे वीतराग। ग्यारहवें, बारहवें गुणस्थानवर्ती जीव वीतराग और इनसे नीचे के सब सराग छद्मस्थ हैं। कर्दम सहित जल में निर्मली डालने से कर्दम नीचे बैठ जाता है और ऊपर स्वच्छ जल रह जाता है। इसी प्रकार इस गुणस्थान में मोहकर्म के उदयरूप कीचड़ का सर्वथा उपशम हो जाता है और ज्ञानावरण का उदय रहता है इसलिए इस गुणस्थान का यथार्थ नाम उपशांतकषाय वीतराग छद्मस्थ है।

यहाँ पर चारित्र की अपेक्षा केवल औपशमिक भाव और सम्यक्त्व की अपेक्षा औपशमिक और क्षायिक इस तरह से दो भाव पाये जाते हैं।

बारहवें गुणस्थान का स्वरूप

णिस्सेसखीणमोहो, फलिहामलभायणुदयसमचित्तो।
खीणकसाओ भण्णदि, णिग्गंथो वीयरायेहिं[1]।।23।।

निःशेषक्षीणमोहः स्फटिकामलभाजनोदकसमचित्तः।
क्षीणकषायो भण्यते निर्ग्रन्थो[2] वीतरागैः।।23।।

1. षटखं. संतसुत्त पृ. 190, गाथा नं. 123।
2. सम्पूर्ण 24 परिग्रहों का अभाव यहीं पर होता है क्योंकि बाह्यक्षेत्र आदि दशविध परिग्रह का त्याग तो पहले से ही पूर्ण था परन्तु मोहनीय का सर्वथा अभाव यहीं होने से ''मिथ्यात्ववेदरागास्तथैव हास्यादयश्च षड् दोषाः। चत्वारश्च कषायाश्चतुर्दशाभयन्तरा ग्रंथाः' पु. सि.ये 14 अंतरंग परिग्रह यहीं सर्वथा विवृत्त होती हैं।

अर्थ—जिस निर्ग्रंथ का चित्त मोहनीय कर्म के सर्वथा क्षीण हो जाने से स्फटिक के निर्मल पात्र में रखे हुए जल के समान निर्मल हो गया है उसको वीतराग देव ने क्षीणकषाय नामक बारहवें गुणस्थानवर्ती कहा है।

भावार्थ—जिस छद्मस्थ की वीतरागता के विरोधी मोहनीय कर्म के द्रव्य एवं भाव दोनों ही प्रकारों का अथवा प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशरूप चारों ही भेदों का सर्वथा बंध, उदय, उदीरणा एवं सत्व की अपेक्षा क्षय हो जाता है वह बारहवें गुणस्थान वाला माना जाता है इसलिए आगम में इसका नाम क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ ऐसा बताया है। यहाँ छद्मस्थ शब्द अन्त्यदीपक है और वीतराग शब्द नाम, स्थापना और द्रव्यरूप वीतरागता की निवृत्ति के लिए है तथा यहाँ पर पाँच भावों में से मोहनीय के सर्वथा अभाव की अपेक्षा से एक क्षायिक भाव ही माना गया है।

तेरहवें गुणस्थान का वर्णन

केवलणाणदिवायर, किरण-कलावप्पणासियण्णाणो।
णवकेवललद्धुग्गम, सुजणियपरमप्पववएसो।।24।।

केवलज्ञानदिवाकर,-किरणकलापप्रणाशिताज्ञानः।
नवकेवललब्ध्युद्गमसुजनितपरमात्मव्यपदेशः।।24।।

अर्थ—जिसका केवलज्ञानरूपी सूर्य की अविभागप्रतिच्छेदरूप किरणों के समूह से (उत्कृष्ट अनंतानंत प्रमाण) अज्ञान अंधकार सर्वथा नष्ट हो गया हो और जिसको नव केवललब्धियों के (क्षायिक सम्यक्त्व, चारित्र, ज्ञान, दर्शन, दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य) प्रकट होने से परमात्मा यह व्यपदेश (संज्ञा) प्राप्त हो गया है, वह इंद्रिय, आलोक आदि की अपेक्षा न रखने वाले ज्ञान-दर्शन से युक्त होने के कारण केवली और योग से युक्त रहने के कारण सयोग तथा घाति कर्मों से रहित होने के कारण जिन कहा जाता है ऐसा अनादिनिधन आर्ष आगम में कहा है।

भावार्थ—बारहवें गुणस्थान का विनाश होते ही जिसके तीन[1] घाति कर्म और अघाति कर्मों की 16 प्रकृति, इस तरह कुल मिलाकर 63 कर्म प्रकृतियों के नष्ट होने से अनंत चतुष्टय – अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतसुख और अनंत वीर्य तथा केवललब्धि प्रकट हो चुकी हैं किन्तु साथ ही जो योग से भी युक्त है उस अरिहंत परमात्मा को तेरहवें गुणस्थानवर्ती कहते हैं।

चौदहवें अयोगकेवली गुणस्थान का वर्णन

सीलेसिं संपत्तो, णिरुद्धणिस्सेसआसवो जीवो।
कम्मरयविप्पमुक्को, गयजोगो केवली होदि।।25।।

शीलैश्यं संप्राप्तो, निरुद्ध निःशेषास्रवो जीवः।
कर्मरजोविप्रमुक्तो, गतयोगः केवली भवति।।25।।

अर्थ—जो अठारह हजार शील के भेदों का स्वामी हो चुका है और जिसके कर्मों से आने का द्वाररूप आस्रव सर्वथा बंद हो गया है तथा सत्व और उदयरूप अवस्था को प्राप्त कर्मरूप रज की सर्वथा निर्जरा होने से जो उस कर्म से सर्वथा मुक्त होने के सम्मुख है उस योगरहित केवली को चौदहवें गुणस्थानवर्ती अयोगकेवली कहते हैं।

भावार्थ—आगम में शील के जितने भेद या विकल्प कहे हैं उन सबकी पूर्णता यहीं पर होती है इसलिये वह शील का स्वामी है और पूर्ण संवर तथा निर्जरा का सर्वोत्कृष्ट एवं अंतिम पात्र होने से मुक्तावस्था के सम्मुख है। काययोग से भी वह रहित हो चुका है। इस तरह के जीव को ही चौदहवें गुणस्थान वाला अयोगकेवली कहते हैं।

'सजोगजिणो' इति स्थानं 'सजोगो इदि' इति पाठः।।

1. यद्यपि घाति कर्म के चार भेद हैं किन्तु उनमें से मोहनीय कर्म का विनाश पहले ही हो चुका है अतएव शेष तीन कर्मों का विनाश होकर यहाँ आर्हन्त्य अवस्था उत्पन्न होती है। चारों घातिकर्मों को मिलाकर 47 और अघाति कर्मों में से तीन आयुकर्म जिनका यहाँ पर अस्तित्व ही नहीं पाया जाता, नाम कर्म की नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यग्गति, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, विकलत्रय, उद्योत, आतप, एकेन्द्रिय, साधारण, सूक्ष्म और स्थावर ये तेरह इस तरह कुल मिलाकर 63 प्रकृतियाँ हैं, जिनका विनाश – क्षय होने पर तेरहवाँ गुणस्थान प्रकट हुआ करता है।

सिद्धों का लक्षण

अट्ठविहकम्मवियला, सीदीभूदा णिरंजणा णिच्चा।
अट्ठगुणा किदकिच्चा, लोयग्गणिवासिणो सिद्धा।।26।।

अष्टविधकर्मविकलाः[1] शीतीभूता निरंजना नित्याः।
अष्टगुणा कृतकृत्या लोकाग्रनिवासिनः सिद्धाः।।26।।

अर्थ—जो ज्ञानावरणादि अष्ट कर्मों से रहित हैं, अनंतसुखरूपी अमृत के अनुभव करने वाले शांतिमय हैं, नवीन कर्मबंध के कारणभूत मिथ्यादर्शनदि भावकर्मरूपी अंजन से रहित हैं, सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, वीर्य, अव्याबाध, अवगाहन, सूक्ष्मत्व, अगुरुलघु ये आठ मुख्य गुण जिनके प्रकट हो चुके हैं, कृतकृत्य हैं—जिनको कोई कार्य करना बाकी नहीं रहा है, लोक के अग्रभाग में निवास करने वाले हैं, उनको सिद्ध कहते हैं।

भावार्थ—संसारावस्था का विनाश हो जाने पर भी आत्मद्रव्य का विनाश नहीं होता, उसका अस्तित्व रहता है किन्तु वह अस्तित्व किस रूप में रहता है यह इस गाथा के द्वारा बताया गया है।

गुणस्थानसार

इन बीस प्ररूपणाओं द्वारा अथवा इन बीस प्रकरणों का आश्रय लेकर यहाँ जीवद्रव्य का प्ररूपण किया जाता है। ''जीवट्ठाण'' नामक सिद्धांतशास्त्र में अशुद्ध जीव के 14 गुणस्थान, 14 मार्गणा और 14 जीवसमास स्थानों का जो वर्णन है वही इसका आधार है। संक्षेप रुचि वाले शिष्यों की अपेक्षा से इन बीस प्ररूपणाओं का गुणस्थान और मार्गणा इन दो ही प्ररूपणाओं में

---

1. कर्म 8 हैं। वे आत्मा के आठ गुणों का घात करते हैं। इन कर्मों का संबंध सर्वथा छूट जाने पर आत्मा के वे गुण प्रकट हो जाते हैं, जैसा कि गाथा में 'अट्ठगुण' विशेषण के द्वारा बताया गया है। कौन सा कर्म किस गुण का घात करता है, यह इन दो गाथाओं द्वारा बताया गया है—

मोहो खाइयसम्मं केवलणाणं च केवलालोयं।
हणदि हु आवरणदुगं अणंतविरियं हणेदि विग्घं तु।।
सुहुमं च णामकम्मं हणेदि आऊ हणेदि अवगहणं।
अगुरुलहुगं गोदं अब्बाबाहं हणेदि वेयणियं।।

अंतर्भाव हो जाता है अतएव संग्रहनय से दो ही प्ररूपणा हैं अर्थात् गुणस्थान यह एक प्ररूपणा हुई और चौदह मार्गणाओं में जीवसमास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा और उपयोग इन पाँचों प्ररूपणाओं का अंतर्भाव हो जाता है। जैसे—इंद्रिय मार्गणा और कायमार्गणा में जीवसमास गर्भित हो जाते हैं इत्यादि। इसलिये अभेद विवक्षा से गुणस्थान और मार्गणा ये दो ही प्ररूपणा हैं किन्तु भेद विवक्षा से बीस प्ररूपणाएँ होती हैं।

''संक्षेप'' और ''ओघ'' ये गुणस्थान के पर्यायवाची नाम हैं तथा ''विस्तार'' और ''आदेश'' ये मार्गणा के पर्यायवाची नाम हैं। मोह तथा योग के निमित्त से होने वाले आत्मा के परिणामों का नाम गुणस्थान है और अपने-अपने कर्म के उदय से होने वाली मार्गणाएं हैं।

गुणस्थान का सामान्य लक्षण—दर्शनमोहनीय आदि कर्मों की उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम आदि अवस्था के होने पर होने वाले जीव के परिणाम गुणस्थान कहलाते हैं। गुणस्थान के 14 भेद हैं।

उनके नाम—मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरतसम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्तविरत, अप्रमत्तविरत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसांपराय, उपशांतमोह, क्षीणमोह, सयोगकेवली और अयोगकेवली। गुणस्थानों का संक्षिप्त लक्षण—

1. मिथ्यात्व के उदय से होने वाले तत्त्वार्थ के अश्रद्धान को मिथ्यात्व कहते हैं। इसके पाँच भेद हैं—एकांत, विपरीत, विनय, संशय और अज्ञान अथवा गृहीत और अगृहीत के भेद से मिथ्यात्व के दो भेद भी होते हैं। इन्हीं में संशय को मिला देने से तीन भेद भी हो जाते हैं। विशेष रूप से 363 भेद होते हैं यथा—क्रियावादियों के 180, अक्रियावादियों के 84, अज्ञानवादियों के 67 और वैनयिकवादियों के 32, मिथ्यादृष्टि जीव के परिणामों की अपेक्षा विस्तार से मिथ्यात्व के असंख्यात लोकप्रमाण तक भेद हो जाते हैं।

मिथ्यादृष्टि जीव को सच्चा धर्म नहीं रुचता है। वह सच्चे गुरुओं के उपदेश का श्रद्धान नहीं करता है किन्तु आचार्याभासों से उपदिष्ट वचनों का श्रद्धान कर लेता है। इस गुणस्थान का काल संख्यात, असंख्यात या अनंत भव होता है।

2. उपशम सम्यक्त्व का जघन्य और उत्कृष्ट काल अंतर्मुहूर्त है। किसी सम्यग्दृष्टि के इस अंतर्मुहूर्त काल में से जब जघन्य एक समय तथा उत्कृष्ट छः आवली प्रमाण काल शेष रहे और उसी काल में अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ में से किसी एक के उदय आ जाने से सम्यक्त्व की विराधना होने पर जो अव्यक्तरूप अतत्त्व श्रद्धान की परिणति है उसे सासादन गुणस्थान कहते हैं। इसका काल अति अल्प होने से हम और आप के द्वारा जाना नहीं जाता है। यह जीव सम्यक्त्वरूपी रत्नपर्वत से गिरा और मिथ्यात्वरूपी भूमि पर नहीं पहुँचा, मध्य के काल का नाम सासादन है। इसका काल जघन्य एक समय और उत्कृष्ट 6 आवली मात्र है।

3. दर्शनमोहनीय की सम्यक्त्वमिथ्यात्व नामक प्रकृति के उदय से सम्यक्त्व या मिथ्यात्वरूप परिणाम न होकर जो मिश्र परिणाम होते हैं, उसे मिश्र गुणस्थान कहते हैं। जैसे—दही और गुड़ के मिश्रण का स्वाद मिश्ररूप है वैसे ही यहाँ मिश्र श्रद्धान है। इस गुणस्थान में संयम, देशव्रत और मारणांतिक समुद्घात नहीं होता है तथा मृत्यु भी नहीं है। पहले जिस गुणस्थान में आयु बाँधी थी, उसी गुणस्थान में जाकर मरण करता है। इस गुणस्थान का काल अंतर्मुहूर्त मात्र है।

4. अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति इन सात प्रकृतियों के उपशम से उपशम सम्यक्त्व, क्षय से क्षायिक सम्यक्त्व एवं सम्यक्त्व प्रकृति के उदय से वेदक सम्यक्त्व होता है। इस वेदक सम्यक्त्व में चल, मलिन और अगाढ़ दोष होते रहते हैं। यह सम्यक्त्व भी नित्य ही अर्थात् जघन्य अंतर्मुहूर्त से लेकर उत्कृष्ट छ्यासठ सागर पर्यंत कर्मों की निर्जरा का कारण है। शंका आदि पच्चीस मल दोषों को दूर करने वाला सम्यग्दृष्टि जिनेन्द्र भगवान के वचनों पर श्रद्धान करता है। कदाचित् अज्ञानी आदि गुरु के वचनों को अर्हंत के वचन समझकर श्रद्धान कर लेता है फिर भी सम्यग्दृष्टि है। यदि पुनः किसी गुरु ने उसे सूत्रादि ग्रंथ दिखाकर कहा कि यह गलत है और वह हठ को नहीं छोड़ता है तो उसी समय से वह मिथ्यादृष्टि बन जाता है। यह जीव इंद्रियों के विषयों से, त्रस-स्थावर की हिंसा से विरत नहीं है फिर भी अनर्गल रूप

से इंद्रिय विषयों का सेवन या हिंसादि कार्य नहीं कर सकता है अतः जिनेन्द्र भगवान के वचनों पर श्रद्धान करने से अविरत सम्यग्दृष्टि कहलाता है। उपशमसम्यक्त्व का जघन्य एवं उत्कृष्ट काल अंतर्मुहूर्त है। वेदक का जघन्य अंतर्मुहूर्त एवं उत्कृष्ट छ्यासठ सागर प्रमाण है और क्षायिक का अनंतकाल है। यह सम्यक्त्व केवली या श्रुतकेवली के पादमूल में ही होता है और तीन या चार भव में जीवों को मोक्ष पहुँचाकर वहाँ शाश्वत विद्यमान रहता है।

5. यहाँ पर प्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय रहने से पूर्ण संयम नहीं होता किन्तु अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय रहने से एक देशव्रत होते हैं अतः इस पंचम गुणस्थान का नाम देशसंयम है। इसमें त्रसवध से विरति और स्थावर वध से अविरति ऐसे विरताविरत परिणाम एक समय में रहते हैं अतः यह संयमासंयम गुणस्थान है। इसका उत्कृष्ट काल कुछ अधिक आठ वर्ष कम एक कोटि पूर्व वर्ष प्रमाण है।

6. यहाँ सकल संयम घातक प्रत्याख्यानावरण कषाय के क्षयोपशम से पूर्ण संयम हो चुका है किन्तु संज्वलन और नोकषाय के उदय से मल को उत्पन्न करने वाले प्रमाद के होने से इसे प्रमत्तविरत कहते हैं। यह साधु सम्पूर्ण मूलगुण और शीलों से सहित, व्यक्त, अव्यक्त प्रमाद के निमित्त से चित्रल आचरण वाला होता है। स्त्रीकथा, भक्तकथा, राष्ट्रकथा, अवनिपालकथा, 4 कषाय, पंचेन्द्रिय विषय, निद्रा और स्नेह ये 15 प्रमाद हैं। इन्हें परस्पर में गुणा करने से प्रमाद के 80 भेद हो जाते हैं।

यथा—4×4×5×1×1=80

7. संज्वलन और नोकषाय के मंद उदय से सकल संयमी मुनि के प्रमाद नहीं है अतः ये अप्रमत्तविरत कहलाते हैं। इसके दो भेद हैं—स्वस्थान अप्रमत्त, सातिशय अप्रमत्त। जब तक चारित्र मोहनीय की 21 प्रकृतियों का उपशमन, क्षपण कार्य नहीं है किन्तु ध्यानावस्था है तब तक स्वस्थान अप्रमत्त हैं। जब 21 प्रकृतियों का उपशमन या क्षपण करने के लिए मुनि होते हैं तब वे सातिशय अप्रमत्त कहलाते हैं। ये श्रेणी चढ़ने के सम्मुख होते हैं। इस गुणस्थान का काल अंतर्मुहूर्त है। चारित्र मोहनीय की 21 प्रकृतियों का उपशम या क्षय करने के लिए तीन प्रकार के विशुद्ध परिणाम होते हैं—

अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण। करण नाम परिणामों का है। ये सातिशय अप्रमत्त मुनि अधःप्रवृत्तकरण को करते हैं।

8. अधःप्रवृत्तकरण में अंतर्मुहूर्त रहकर ये मुनि प्रतिसमय अनंतगुणी विशुद्धि को प्राप्त होते हुए एवं पूर्व में कभी भी नहीं प्राप्त हुए ऐसे अपूर्वकरण जाति के परिणामों को प्राप्त होते हैं। यहाँ पर एक समयवर्ती मुनियों के परिणामों में सदृशता और विसदृशता दोनों ही होती है। इसका काल भी अंतर्मुहूर्त है।

9. अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में ध्यान में स्थित एक समयवर्ती अनेकों मुनियों के परिणामों में होने वाली विशुद्धि में परस्पर में निवृत्ति अर्थात् भेद नहीं पाया जाता है इसलिये इसे अनिवृत्तिकरण कहते हैं। इसका काल भी अंतर्मुहूर्त है।

10. उपशमक या क्षपक मुनि सूक्ष्मलोभ का अनुभव करते हुए सूक्ष्मसांपराय कहलाते हैं। यहाँ यथाख्यातचारित्र से किंचिन्ऊन अवस्था रहती है।

11. इस गुणस्थान में मोहनीय कर्म की सम्पूर्ण प्रकृतियों का उपशम हो जाने से परिणाम पूर्णतया निर्मल हो जाते हैं और यथाख्यात चारित्र प्रगट हो जाता है अतएव यहाँ उपशांत वीतरागछद्मस्थ कहलाते हैं।

12. मोहनीय कर्म के सर्वथा नष्ट हो जाने से क्षीणकषाय मुनि निर्ग्रंथ वीतराग कहलाते हैं।

भावार्थ—सातिशय अप्रमत्त गुणस्थान वाले कोई मुनि उपशम श्रेणी में चढ़ते हुये 21 प्रकृतियों को उपशम करते हुए आठवें, नवमें, दशवें और ग्यारहवें तक जाते हैं वहाँ से गुणस्थान का अंतर्मुहूर्त काल पूर्ण कर नियम से नीचे गिरते हैं क्योंकि उपशम की गई 21 कषाय प्रकृतियों में से किसी का उदय आ जाता है अथवा मरण हो जाता है। जो मुनि 21 प्रकृतियों का नाश करते हुये क्षपक श्रेणी पर चढ़ते हैं वे नियम से ग्यारहवें में न जाकर बारहवें में जाते हैं और वहाँ अंत समय में ज्ञानावरणादि का नाश कर केवली बन जाते हैं।

13. यहाँ तेरहवें गुणस्थान में केवलज्ञान प्रगट हो जाता है और क्षायिक भावरूप नवकेवललब्धियाँ प्रकट हो जाती हैं। ये परमात्मा अर्हंत परमेष्ठी कहलाते हैं। कुछ अधिक आठ वर्ष कम एक कोटिपूर्व वर्ष तक इस गुणस्थान में केवली भगवान रह सकते हैं।

14. सयोगकेवली योग निरोध कर चौदहवें गुणस्थान में अयोगी-केवली कहलाते हैं।

पहले, दूसरे, तीसरे गुणस्थान तक बहिरात्मा, चौथे से बारहवें तक अंतरात्मा एवं तेरहवें, चौदहवें में परमात्मा कहलाते हैं।

आयु कर्म के बिना शेष सात कर्मों की गुणश्रेणी निर्जरा का क्रम— सातिशयमिथ्यादृष्टि, सम्यग्दृष्टि, श्रावक, विरत, अनंतानुबंधी के विसंयोजक, दर्शनमोह के क्षपक, कषायों के उपशामक, उपशांत कषाय, कषायों के क्षपक, क्षीणमोह, सयोगी और अयोगी इन ग्यारह स्थानों में कर्मों की निर्जरा क्रम से असंख्यातगुणी-असंख्यातगुणी अधिक-अधिक होती जाती है।

चौदहवें गुणस्थान के अंत में सम्पूर्ण कर्मों से रहित होकर सिद्ध परमेष्ठी हो जाते हैं। वे नित्य, निरंजन, अष्टगुण सहित, कृतकृत्य हैं और लोक के अग्रभाग में विराजमान हो जाते हैं। आत्मा से सम्पूर्ण कर्मों का छूट जाना ही मोक्ष है। ये सिद्ध परमेष्ठी गुणस्थानातीत कहलाते हैं।

इनमें अविरत सम्यग्दृष्टि चतुर्थ गुणस्थानवर्ती, पहली प्रतिमा से लेकर ग्यारहवीं प्रतिमा तक अणुव्रतों का पालन करने वाले देशव्रती पंचमगुणस्थानवर्ती एवं सर्व आरंभ-परिग्रह त्यागी मुनिराज महाव्रती षष्ठ गुणस्थानवर्ती होते हैं।

(द्वितीय अधिकार)

2. जीवसमास

जीव समास का लक्षण

जेहिं अणेया जीवा, णज्जंते बहुविहा वि तज्जादी।
ते पुण संगहिदत्था, जीवसमासा त्ति विण्णेया।।27।।

यैरनेके जीवा नयन्ते, बहुविधा अपि तज्जातयः।
ते पुनः संगृहीतार्था, जीवसमासा इति विज्ञेयाः।।27।।

अर्थ—जिनके द्वारा अनेक जीव तथा उनकी अनेक प्रकार की जाति जानी जाएँ, उन धर्मों को अनेक पदार्थों का संग्रह करने वाले होने से जीवसमास कहते हैं, ऐसा समझना चाहिए।

भावार्थ—उन धर्मविशेषों को जीवसमास कहते हैं कि जिनके द्वारा अनेक जीव अथवा जीव की अनेक जातियों का संग्रह किया जा सके क्योंकि केवलज्ञान के बिना जीवों का स्वरूप और भेद प्रत्यक्ष नहीं जाना जा सकता अतएव छद्मस्थों को उनका बोध कराना ही इस प्ररूपणा का प्रयोजन है। संग्रहनय से जिन पर्यायाश्रित अनेक जीवों में पाये जाने वाले समान धर्मों के द्वारा उनका संक्षेप में ज्ञान कराया जा सके उनको ही जीवसमास कहते हैं। टीकाकारों ने जीवसमास शब्द से एकेन्द्रियत्व आदि जातिधर्म अथवा उससे युक्त त्रस आदि अविरुद्ध धर्म तथा तद्वान् जीव इस तरह तीन अर्थ बताये हैं।

इसका कारण उन धर्मों में पाई जाने वाली सदृशता है जैसा कि आगे की गाथा में बताया गया।

इस गाथा में प्रयुक्त ''अणेय'' शब्द का अर्थ ''अज्ञेया'' ऐसा भी होता है जिससे अभिप्राय यह बताया गया है कि यद्यपि संसारी प्राणियों को जीव द्रव्य अज्ञेय है, फिर भी जिन सदृश धर्मों के द्वारा उनका बोध हो सकता है उनको ही जीवसमास कहते हैं। इस शब्द की निरूक्ति इस तरह होती है कि जीवाः समस्यन्ते-संक्षिप्यन्ते-संगृहयन्ते यैः धर्मैस्ते जीवसमासाः''। अर्थात् अज्ञेया होने पर भी जिन एकेन्द्रियत्व बादरत्व आदि धर्मों के द्वारा संग्रहरूप

में अनेकों जीवों और उनकी विविध जातियों का निश्चय हो सके, उनको ही जीवसमास कहते हैं।

संक्षेप से जीवसमास के चौदह भेदों को गिनाते हैं

बादरसुहुमेइंदिय, वितिचउरिंदिय असण्णिसण्णी य।
पज्जत्तापज्जत्ता, एवं ते चोद्दसा होंति।।28।।

बादरसूक्ष्मैकेन्द्रियद्वि त्रिचतुरिन्द्रियासंज्ञिसंज्ञिनश्च।
पर्याप्तापर्याप्ता एवं ते चतुर्दश भवन्ति।।28।।

अर्थ—एकेन्द्रिय के दो प्रकार हैं—बादर और सूक्ष्म तथा विकलत्रय के तीन भेद हैं–द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय। पंचेन्द्रिय के दो भेद हैं—संज्ञिपंचेन्द्रिय और असंज्ञिपंचेन्द्रिय। इस तरह ये सातों ही प्रकार के जीव पर्याप्त और अपर्याप्त दोनों ही तरह के हुआ करते हैं इसलिये जीवसमास के सामान्यतया सब मिलकर चौदह भेद होते हैं।

भावार्थ—यहाँ पर जो ये जीवसमास के चौदह भेद गिनाये हैं वे संक्षेप में और सामान्यरूप से ही बताये हैं तथा इन भेदों को बताने का यह एक प्रकार है किन्तु जीवसमास का जो लक्षण बताया गया है उसके अनुसार प्रकारान्तरों से भी जीवसमास के भेद हो सकते हैं। जैसा कि इस जीवकाण्ड के कर्त्ता श्री नेमिचंद्र सिद्धांत चक्रवर्ती के उक्त लक्षणानुसार द्रव्यसंग्रह ग्रंथ में गुणस्थानों को, जिनका कि यहाँ पर पहले वर्णन किया जा चुका है तथा मार्गणाओं को भी, जिनका कि यहाँ आगे वर्णन किया जाएगा, जीवसमास के ही भेद बताया है। इसके सिवाय स्थावर के पाँच भेद और त्रस के चार भेद इस तरह मिलाकर जीवसमास के नौ भेद भी बताये हैं। षट्खंडागम में भी गुणस्थानों के लिए जीवसमास शब्द का प्रयोग किया गया है।

आकृतियोनि के भेद

संखावत्तयजोणी, कुम्मुण्णयवंसपत्तजोणी य।
तत्थ य संखावत्ते, णियमा दु विवज्जदे गब्भो।।29।।

शंखावर्तकयोनिः, कूर्मोन्नतवंशपत्रयोनी च।
तत्र च शंखावर्ते, नियमात्तु विवर्ज्यते गर्भः।।29।।

अर्थ—आकृति योनि के तीन भेद हैं—1. शंखावर्त्त, 2. कूर्मोन्नत, 3. वंशपत्र। इनमें से शंखावर्त योनि में गर्भ नियम से वर्जित है[1]।

भावार्थ—जिसके भीतर शंख के समान चक्कर पड़े हों उसको शंखावर्त योनि कहते हैं। जो कछुआ की पीठ की तरह उठी हुई हो उसको कूर्मोन्नत योनि कहते हैं। जो बाँस के पत्ते के समान लम्बी हो उसको वंशपत्र योनि कहते हैं। ये तीन तरह की आकार योनि हैं, इनमें से पहली शंखावर्त योनि में नियम से गर्भ नहीं रहता।

कुम्मुण्णयजोणीये, तित्थयरा दुविहचक्कवट्टी य।
रामा वि य जायंते, सेसाए सेसगजणो दु।।30।।

कूर्मोन्नतयोनौ, तीर्थकरा द्विविधचक्रवर्तिनश्च।
रामा अपि च जायन्ते, शेषायां शेषकजनस्तु।।30।।

अर्थ—कूर्मोन्नत योनि में तीर्थंकर, चक्रवर्ती, अर्धचक्री व बलभद्र तथा अपि शब्द की सामर्थ्य से अन्य भी महान पुरुष उत्पन्न होते[2] हैं। तीसरी वंशपत्र योनि में साधारण पुरुष ही उत्पन्न होते हैं।

गुणयोनि के भेद

जम्म[3] खलु सम्मुच्छण, गब्भुववादा दु होदि तज्जोणी।
सच्चित्तसीदसउडसेदर मिस्सा य[4] पत्तेयं।।31।।

जन्म खलु सम्मूर्छनगर्भोपपादास्तु भवति तद्योनयः।
सचित्तशीतसंवृतसेतरमिश्राश्च प्रत्येकम्।।31।।

---

1. यौति–मिश्रीभवति औदारिकादिनोकर्मवर्गणापुद्गलैः सह सम्बध्यते जीवो यस्यां सा योनिः–जीवोत्पत्तिस्थानम्।....देवीनां चक्रवर्तिस्त्रीरत्नादीनां कासांचित् तथाविधंखाद्वार्त) योनिसम्भवात्।
2. जी. प्र. टीका में लिखा है कि "अपि शब्दान्नेतरजनाः।" परन्तु स्व. पं. गोपालदास जी के कथनानुसार मालूम होता है कि यहाँ पर "अपि शब्दादितरजना अपि" ऐसा पाठ होना चाहिए क्योंकि प्रथम चक्रवर्ती भरत जिस योनि से उत्पन्न हुए थे, उसी से उनके 99 भाई भी उत्पन्न हुए थे।
3. सम्मूर्छनगर्भोपपादा जन्म।।31।।
4. सचित्तशीतसंवृताः सेतराः मिश्राश्चैकशस्तद्योनयः।।23।। त.सू.अ.2।

अर्थ—जन्म तीन प्रकार का होता है–सम्मूर्छन, गर्भ और उपपाद तथा सचित्त, शीत, संवृत और इनसे उल्टी अचित्त, उष्ण, विवृत तथा तीनों की मिश्र, इस तरह तीनों ही जन्मों की आधारभूत नौ गुणयोनि हैं। इनमें से यथासम्भव प्रत्येक योनि को सम्मूर्छनादि जन्म के साथ लगा लेना चाहिये।

भावार्थ—सामान्यतया गुणयोनि के ये नौ भेद हैं—सचित्त, अचित्त, मिश्र अर्थात् सचित्ताचित्त, शीत, उष्ण, मिश्र और संवृत, विवृत, मिश्र, सचित्त, शीत, संवृत, अचित्त, उष्ण, विवृत, सचित्ताचित्त, शीतोष्ण और संवृतविवृत।

चौरासी लाख योनि के भेद

णिच्चिदरधादुसत्त य, तरुदसवियलिंदियेसु छच्चेव।
सुरणिरयतिरियचउरो, चोद्दस मणुए सदसहस्सा।।32।।

नित्येतरधातुसप्त च, तरुदश विकलेन्द्रियेषु षट् चैव।
सुरनिरयतिर्यक्चतस्रः, चतुर्दश मनुष्ये शतसहस्राः।।32।।

अर्थ—नित्यनिगोद, इतरनिगोद, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु इनमें से प्रत्येक की सात-सात लाख, तरु अर्थात् प्रत्येक वनस्पति की दश लाख, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय इनमें से प्रत्येक की दो-दो लाख अर्थात् विकलेन्द्रिय की सब मिलाकर छः लाख, देव, नारकी, पंचेन्द्रिय तिर्यंच प्रत्येक की चार-चार लाख, मनुष्य की चौदह लाख, सब मिलाकर 84 लाख योनि होती हैं।

कुल कोटी के भेद

एया य कोडिकोडी, सत्ताणउदी य सदसहस्साइं।
पण्णं कोडिसहस्सा, सव्वंगीणं कुलाणं य।।33।।

एका च कोटि कोटी, सप्तनवतिश्च शतसहस्राणि।
पंचाशत् कोटि सहस्राणि, सर्वांगिनां कुलानां च।।33।।

अर्थ—इस प्रकार पृथिवीकायिक से लेकर मनुष्यपर्यन्त सम्पूर्ण जीवों के समस्त कुलों की संख्या एक कोड़ाकोड़ी तथा सत्तानवे लाख और पचास हजार कोटि है।

भावार्थ—सम्पूर्ण संसारी जीवों के कुलों की संख्या एक करोड़

सत्तानवे लाख पचास हजार को एक करोड़ से गुणा करने पर जितना प्रमाण लब्ध हो उतना अर्थात् 1975000000000000 है। ग्रंथान्तरों में मनुष्यों के 14 लाख कोटि कुल गिनाये हैं। उस हिसाब से सम्पूर्ण कुलों का जोड़ एक करोड़ निन्यानवे लाख पचास हजार कोटि होता है।

जीवसमास प्ररूपणा सार

जीवसमास—जिनके द्वारा अनेक जीव अथवा जीव की अनेक जातियों का संग्रह किया जावे, उन्हें जीवसमास कहते हैं।

चौदह जीवसमास—एकेन्द्रिय के दो भेद हैं—बादर और सूक्ष्म तथा विकलेन्द्रिय के तीन भेद हैं—दो इन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय। पंचेन्द्रिय के दो भेद हैं—संज्ञी पंचेन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय। इस तरह ये सातों ही जीवसमास पर्याप्त और अपर्याप्त दोनों तरह के होते हैं इसलिये जीवसमास के सामान्यतया चौदह भेद होते हैं।

सत्तावन जीवसमास—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, नित्यनिगोद, इतरनिगोद। इन छह के बादर और सूक्ष्म से 12 भेद हुए। प्रत्येक वनस्पति के दो भेद हैं—सप्रतिष्ठित और अप्रतिष्ठित। त्रस के 5 भेद हैं—दो इंद्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञि पंचेन्द्रिय और संज्ञि पंचेन्द्रिय। ये सब मिला कर उन्नीस भेद हुए। यथा—12+2+5=19। ये सभी भेद पर्याप्त निर्वृत्यपर्याप्त एवं लब्ध्यपर्याप्त के भेद से तीन-तीन प्रकार के होते हैं।

इसलिये 19 का 3 के साथ गुणा करने पर 57 भेद हो जाते हैं। यथा 19X3=57।

अट्ठानवे जीवसमास—जीवसमास के उक्त 57 भेदों से पंचेन्द्रिय के 6 भेद निकाल दीजिये अर्थात् पंचेन्द्रिय के संज्ञी, असंज्ञी दो में पर्याप्त, निर्वृत्यपर्याप्त और लब्ध्यपर्याप्त से गुणा कर दीजिये तो 2X3=6 भेद होते हैं। 57 में से 6 के निकल जाने से 57-6=51 बचे हैं।

कर्मभूमि पंचेन्द्रिय तिर्यंचों के गर्भज और सम्मूर्च्छन दो भेद होते हैं। गर्भज के जलचर, स्थलचर, नभचर ऐसे तीन भेद हैं और इनमें संज्ञी, असंज्ञी से दो भेद होने से 2X3=6 भेद हो गये, पुनः इनके पर्याप्त और

निर्वृत्यपर्याप्त दो भेद करने से 6X2=12 भेद हो जाते हैं। पंचेन्द्रिय सम्मूर्च्छन के जलचर, स्थलचर, नभश्चर। इनके संज्ञी-असंज्ञी दो भेद किये तो 3X2=6। इन 6 को पर्याप्त, निर्वृत्यपर्याप्त और लब्ध्यपर्याप्त इन तीन से गुणा करने पर 6X3=18 भेद हो गये ऐसे कर्मभूमिज पंचेन्द्रिय तिर्यंचों के 12+18=30 भेद हो गये।

भोगभूमि में पंचेन्द्रिय तिर्यंचों के स्थलचरनभचर दो ही भेद होते हैं, ये दोनों ही पर्याप्त, निर्वृत्यपर्याप्त ही होते हैं इसलिये 2X2=4। भोगभूमिज के 4 भेद हुये क्योंकि भोगभूमि में जलचर सम्मूर्च्छन तथा असंज्ञी जीव नहीं होते हैं।

आर्यखंड के मनुष्यों के पर्याप्त, निर्वृत्यपर्याप्त और लब्ध्यपर्याप्त ये तीन भेद ही होते हैं। म्लेच्छ खंड में लब्ध्यपर्याप्तक को छोड़कर दो ही भेद होते हैं। इसी प्रकार भोगभूमि, कुभोगभूमि के मनुष्यों के पर्याप्त, निर्वृत्यपर्याप्त दो ही भेद हैं। देव और नारकियों के भी ये ही दो भेद होते हैं। इस तरह सब मिलाकर अट्ठानवे भेद होते हैं। यथा—एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय संबंधी 51, कर्मभूमिज पंचेन्द्रिय तिर्यंचों के 30, भोगभूमिज तिर्यंचों के 4, आर्यखंड के मनुष्यों के 3, म्लेच्छखण्ड के मनुष्यों के 2, भोगभूमिज मनुष्यों के 2, कुभोगभूमि के 2, देवों के 2, नारकियों के 2 ऐसे—51+30+4+3+2+2+2+2+2=98 जीवसमास होते हैं।

जीवसमास के अवांतर भेदों को समझने के लिए चार अधिकार–

स्थान, योनि, शरीर की अवगाहना और कुलों के भेद इन चार अधिकारों के द्वारा जीवसमास को विशेष रूप से जानना चाहिए।

स्थान—एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि जाति भेद को अथवा एक, दो, तीन, चार आदि जीव के भेदों को स्थान कहते हैं।

योनि—जीवों की उत्पत्ति के आधार को योनि कहते हैं।

अवगाहना—शरीर के छोटे-बड़े भेदों को अवगाहना कहते हैं।

कुल—भिन्न-भिन्न शरीर की उत्पत्ति के कारणभूत नोकर्मवर्गणा के भेदों को कुल कहते हैं।

जीवस्थान के भेद—सामान्य से जीव का एक ही भेद है क्योंकि "जीव" कहने से जीवमात्र का ग्रहण हो जाता है अतः सामान्य से जीव-

समास का एक भेद, त्रस-स्थावर से दो भेद, एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, सकलेन्द्रिय से तीन भेद, एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, संज्ञी-असंज्ञी पंचेन्द्रिय से चार भेद, पाँच इंद्रियों की अपेक्षा पाँच भेद, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस ऐसे षट्काय की अपेक्षा से छह भेद, पाँच स्थावर विकलेन्द्रिय, सकलेन्द्रिय से सात भेद, पाँच स्थावर, विकलेन्द्रिय, संज्ञी, असंज्ञी से आठ भेद, पाँच स्थावर, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय से नौ भेद, पाँच स्थावर, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, संज्ञी-असंज्ञी पंचेन्द्रिय से दस भेद ऐसे ही उन्नीस तक भेद करते चलिये।

पूर्वोक्त 19 को पर्याप्त-अपर्याप्त से गुणा करने से 19×2=38 भेद एवं 19 को पर्याप्त-निर्वृत्यपर्याप्त से गुणा करने पर 19×3=57 भेद होते हैं एवं पूर्वोक्त प्रकार से 98 तक भेद हो जाते हैं इन्हें जीवसमासों के स्थान कहते हैं।

योनि भेद—योनि के मुख्य दो भेद हैं—आकार योनि, गुण योनि।

आकार योनि के भेद—शंखावर्त, कूर्मोन्नत और वंशपत्र ये तीन भेद हैं।

जिसके भीतर शंख के समान चक्कर पड़े हों उसे शंखावर्त कहते हैं, इसमें नियम से गर्भ वर्जित है। यह योनि चक्रवर्ती की पट्टरानी की होती है।

जो कछुए की पीठ की तरह उठी हो उसे कूर्मोन्नत योनि कहते हैं, इस योनि में तीर्थंकर, चक्रवर्ती, अर्धचक्री, बलभद्र तथा अन्य भी महान पुरुष उत्पन्न होते हैं अर्थात् इनकी माताओं की यही योनि होती है।

जो बाँस के पत्ते के समान लम्बी हो उसे वंशपत्र योनि कहते हैं। इसमें साधारण जन ही उत्पन्न होते हैं।

जन्म तथा उनके आधारभूत गुणयोनि के भेद

जन्म के तीन भेद—सम्मूर्छन, गर्भ और उपपाद। इन जन्मों के आधारभूत योनि के नौ भेद हैं—सचित्त, शीत, संवृत, अचित्त, उष्ण, विवृत्त, सचित्ताचित्त, शीतोष्ण और संवृतविवृत।

सामान्य से योनि के ये नौ भेद हैं एवं विस्तार से 84,00,000 भेद होते हैं। यथा—नित्य निगोद, इतर निगोद, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु इनमें से प्रत्येक की सात-सात लाख, वनस्पति की दस लाख, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय,

चतुरिन्द्रिय इनमें से प्रत्येक की दो-दो लाख, देव, नारकी, पंचेन्द्रिय तिर्यंच प्रत्येक की चार-चार लाख, मनुष्य की चौदह लाख, सब मिलाकर 6X7=42+10+6+12+14=84 लाख योनियाँ होती हैं।

तात्पर्य—**अनादिकाल से प्रत्येक प्राणी इन चौरासी लाख योनियों में परिभ्रमण कर रहा है। जब यह जीव रत्नत्रय को प्राप्त करता है तभी चौरासी लाख योनि के चक्कर से छुटकारा पा सकता है अन्यथा नहीं ऐसा समझकर जल्दी से जल्दी सम्यग्दृष्टि बनकर सम्यक्चारित्र को ग्रहण कर लेना चाहिए।**

कहाँ कौन सा जन्म होता है?

देवगति और नरकगति में उपपाद जन्म होता है। मनुष्य तथा तिर्यंचों में यथासंभव गर्भज और सम्मूर्च्छन दोनों ही जन्म होते हैं। लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्य तथा एकेन्द्रिय एवं विकलेन्द्रिय का नियम से सम्मूर्च्छन जन्म ही होता है। कर्मभूमियाँ पंचेन्द्रिय तिर्यंच गर्भज, सम्मूर्च्छन दोनों ही होते हैं। उपपाद और गर्भ जन्म वाले नियम से लब्ध्यपर्याप्तक नहीं होते हैं। सम्मूर्च्छन मनुष्य नियम से लब्ध्यपर्याप्तक ही होते हैं। चक्रवर्ती की पट्टरानी आदि को छोड़कर शेष आर्यखण्ड की स्त्रियों की योनि, कांख, स्तन, मूत्र, मल आदि में ये लब्ध्यपर्याप्त सम्मूर्च्छन मनुष्य उत्पन्न होते हैं। विषयों में अति आशक्त, परस्त्रीलंपट, वेश्यागामी, निंद्य, पापी जीव मरकर इन सम्मूर्च्छन मनुष्यों में जन्म लेते हैं। इनके मनुष्यायु, मनुष्यगति नामकर्म का उदय है किन्तु पर्याप्तियाँ पूर्ण न होने से शरीर के योग्य परमाणुओं को ग्रहण ही नहीं कर पाते हैं और मर जाते हैं, इनकी आयु लघु अंतर्मुहूर्त प्रमाण है अर्थात् एक श्वांस में अठारहवें भाग प्रमाण है।

अवगाहना के भेद

उत्पन्न होने से तीसरे समय में सूक्ष्मनिगोदिया लब्ध्यपर्याप्त जीव की घनांगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण शरीर की जघन्य अवगाहना कहलाती है अर्थात् ऋजुगति के द्वारा उत्पन्न होने वाले सूक्ष्म-निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव की उत्पत्ति से तीसरे समय में शरीर की जघन्य अवगाहना होती है और इसका प्रमाण घनांगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण है। उत्कृष्ट अवगाहना स्वयंभूरमण समुद्र के मध्य में होने वाले महामत्स्य की होती है। इस मत्स्य

का प्रमाण हजार योजन लम्बा, पाँच सौ योजन चौड़ा, ढाई सौ योजन मोटा है। जघन्य से लेकर उत्कृष्टपर्यंत मध्य में एक-एक प्रदेश की वृद्धि के क्रम से मध्यम अवगाहना के अनेकों भेद होते हैं।

सूक्ष्मनिगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक की जघन्य अवगाहना घनांगुल के असंख्यातवें भाग है। पर्याप्त द्वीन्द्रिय की जघन्य अवगाहना अनुन्धरी जीव की घनांगुल के संख्यातवें भाग, त्रीन्द्रिय कुंथु की इससे संख्यातगुणी अधिक, चतुरिन्द्रिय काणमक्षिका की इससे संख्यातगुणी अधिक एवं पंचेन्द्रिय सिक्थक मत्स्य की इससे संख्यातगुणी अधिक है।

उत्कृष्ट अवगाहना एकेन्द्रिय में कमल की कुछ अधिक हजार योजन, द्वीन्द्रिय शंख की बारह योजन, त्रीन्द्रिय चींटी की तीन कोश, चतुरिन्द्रिय भ्रमर की एक योजन, पंचेन्द्रिय महामत्स्य की एक हजार योजन है पहले जो महामत्स्य की अवगाहना उत्कृष्ट एक हजार योजन बतलाई है और यहाँ कमल की कुछ अधिक एक हजार योजन कहा है उसमें कमल की अपेक्षा महामत्स्य का घनक्षेत्र अधिक होता है इसलिये उसे ही अधिक समझना चाहिए।

जघन्य अवगाहना

इन्द्रिय	जीव	जघन्य
एक इन्द्रिय	सूक्ष्मनिगोदिया	घनांगुल के असंख्यातवें भाग
दो इन्द्रिय	अनुंधरी	घनांगुल के संख्यातवें भाग
तीन इन्द्रिय	कुंथु	घनांगुल के संख्यातगुणी अधिक
चार इन्द्रिय	काणमक्षिका	घनांगुल के संख्यातगुणी अधिक
पंचेन्द्रिय	सिक्थक मत्स्य	घनांगुल के संख्यातगुणी अधिक

उत्कृष्ट अवगाहना

इन्द्रिय	जीव	उत्कृष्ट अवगाहना
1. एक इन्द्रिय	कमल	कुछ अधिक एक हजार योजन
2. द्वीन्द्रिय	शंख	बारह योजन
3. त्रीन्द्रिय	चींटी	तीन कोश
4. चतुरिन्द्रिय	भ्रमर	एक योजन
5. पंचेन्द्रिय	महामत्स्य	एक हजार योजन

कुलों के भेद—

पृथ्वीकायिक	जीवों के कुल	22 लाख कोटि
जलकायिक	जीवों के कुल	7 लाख कोटि
अग्निकायिक	जीवों के कुल	3 लाख कोटि
वायुकायिक	जीवों के कुल	7 लाख कोटि
द्वीन्द्रिय के	जीवों के कुल	7 लाख कोटि
त्रीन्द्रिय के	जीवों के कुल	7 लाख कोटि
चतुरिन्द्रिय के	जीवों के कुल	9 लाख कोटि
वनस्पति के	जीवों के कुल	28 लाख कोटि
पंचेन्द्रिय तिर्यंच जलचर	जीवों के कुल	12-1/2 लाख कोटि
पक्षियों के	जीवों के कुल	12 लाख कोटि
पशुओं के	जीवों के कुल	10 लाख कोटि
छाती के सहारे चलने वाले दोमुहे सर्प आदि	जीवों के कुल	9 लाख कोटि
देव के	जीवों के कुल	26 लाख कोटि
नारकी के	जीवों के कुल	25 लाख कोटि
मनुष्य के	जीवों के कुल	12 लाख कोटि

इस प्रकार से सब मिलाकर जीवों के कुलों की संख्या—एक कोड़ाकोड़ी सत्तानवे लाख, पचास हजार कोटि है अर्थात् एक करोड़ सत्तानवे लाख, पचास हजार को एक करोड़ से गुणा करने पर—1,97,50,000×1,00,00,000= 1,97,50,00,00,00,00,000 हैं। अन्य ग्रंथों में मनुष्यों के 14 लाख कोटि कुल गिनाये हैं उनकी अपेक्षा से 1,99,50,00,00,00,00,000 प्रमाण होता है।

भव्य जीवों को इस सिद्धांत शास्त्र के अनुसार जीवों के स्थान, योनि, शरीर, अवगाहना और इन कुल भेदों को अवश्य ही जान लेना चाहिए क्योंकि इनके जाने बिना मोक्षमार्गरूप चारित्र तथा दयामय धर्म का वास्तव में पालन नहीं किया जा सकता है। अतएव अहिंसा व्रत का पूर्णतया पालन करने के लिए अवश्य ही इनका अभ्यास करना चाहिए।

(तृतीय अधिकार)

3. पर्याप्तिः

पर्याप्ति के लक्षण

जह पुण्णापुण्णाइं, गिह-घड-वत्थादियाइं दव्वाइं।
तह पुण्णिदरा जीवा, पज्जत्तिदरा मुणेयव्वा।।34।।

यथा पूर्णापूर्णानि गृहघटवस्त्रादिकानि द्रव्याणि।
तथा पूर्णतराः जीवाः पर्याप्तेतराः मन्तव्याः।।34।।

अर्थ—जिस प्रकार घर, घट, वस्त्र आदिक अचेतन द्रव्य पूर्ण और अपूर्ण दोनों प्रकार के होते हैं उसी प्रकार पर्याप्त और अपर्याप्त नामकर्म के उदय से युक्त जीव भी पूर्ण और अपूर्ण दो प्रकार के होते हैं। जो पूर्ण हैं उनको पर्याप्त और जो अपूर्ण हैं उनको अपर्याप्त कहते हैं।

भावार्थ—गृहीत आहार वर्गणा को खल-रस भाग आदि रूप परिणमाने की जीव की शक्ति के पूर्ण हो जाने को पर्याप्ति कहते हैं। ये पर्याप्ति जिनके पाई जाएँ उनको पर्याप्त और जिनकी वह शक्ति पूर्ण न हो उन जीवों को अपर्याप्त कहते हैं। जिस प्रकार घटादिक द्रव्य बन चुकने पर पूर्ण और उससे पूर्व अपूर्ण कहे जाते हैं उसी प्रकार पर्याप्ति सहित को पूर्ण या पर्याप्त तथा पर्याप्ति रहित को अपूर्ण या अपर्याप्त कहते हैं।

पर्याप्तियों के भेद

आहार-सरीरिंदिय, पज्जत्ती आणपाण-भास-मणो।
चत्तारि पंच छप्पि य, एइंदिय-वियल-सण्णीणं।।35।।

आहार शरीरेन्द्रियाणि पर्याप्तयः आनप्राणभाषामनान्सि।
चतस्रः पंच षडपि च एकेन्द्रिय-विकल-संज्ञिनाम्।।35।।

अर्थ—आहार, शरीर, इंद्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन इस प्रकार पर्याप्ति के छह भेद हैं। इनमें से एकेन्द्रिय जीवों के आदि की चार पर्याप्ति होती हैं और विकलेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और

असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के अंतिम मनः पर्याप्ति को छोड़कर शेष पाँच पर्याप्ति होती हैं और संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के सभी छहों पर्याप्ति हुआ करती हैं।

भावार्थ—एक शरीर को छोड़कर दूसरे नवीन शरीर के लिए कारणभूत जिन नोकर्म वर्गणाओं को जीव ग्रहण करता है उनको खलरसभागरूप परिणमाने की पर्याप्त नाम कर्म के उदय से युक्त जीव की शक्ति के पूर्ण हो जाने को आहार पर्याप्ति कहते हैं और उनमें से खलभाग को हड्डी आदि कठोर अवयवरूप तथा रसभाग को खून आदि द्रव (नरम पतले) अवयव रूप परिणमाने की शक्ति के पूर्ण होने को शरीर पर्याप्ति कहते हैं तथा उसी नोकर्म वर्गणा के स्कंधों में से कुछ वर्गणाओं को अपनी-अपनी इंद्रिय के स्थान पर उस द्रव्येन्द्रिय के आकाररूप परिणमाने की आवरण—ज्ञानावरण, दर्शनावरण और वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम तथा जाति नाम कर्म के उदय से युक्त जीव की शक्ति के पूर्ण होने को इंद्रिय पर्याप्ति कहते हैं। इसी प्रकार कुछ स्कन्धों को श्वासोच्छ्वासरूप परिणमाने की जो जीव की शक्ति की पूर्णता है, उसको पर्याप्ति कहते हैं और वचन रूप होने के योग्य पुद्गल स्कन्धों (भाषा वर्गणा) को वचन रूप परिणमावने की स्वर नाम कर्म के उदय से युक्त जीव की शक्ति के पूर्ण होने को भाषा पर्याप्ति कहते हैं तथा द्रव्य मनरूप होने के योग्य पुद्गल स्कंधों को (मनोवर्गणाओं को) द्रव्य मन के आकार परिणमावने को नोइंद्रियावरण और वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से युक्त जीव की शक्ति के पूर्ण होने को मनः पर्याप्ति कहते हैं। इन छह पर्याप्तियों में से एकेन्द्रिय जीवों के आदि की चार ही पर्याप्ति हुआ करती हैं और द्वीन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक जीवों के मनः पर्याप्ति को छोड़कर शेष पाँच पर्याप्ति ही होती हैं और संज्ञी जीवों के छहों पर्याप्ति हुआ करती हैं। जिन जीवों की पर्याप्ति पूर्ण हो जाती हैं उनको पर्याप्त और जिनकी पूर्ण नहीं होती अपर्याप्त कहते हैं।

अपर्याप्त जीवों के भी दो भेद हैं—एक निर्वृत्य पर्याप्त दूसरा लब्ध्यपर्याप्त। जिनकी पर्याप्ति अभी तक पूर्ण नहीं हुई है, किन्तु अंतर्मुहूर्त में नियम से पूर्ण हो जायेंगी उनको निर्वृत्यपर्याप्त कहते हैं और जिनकी पर्याप्ति न तो अभी तक पूर्ण हुई हैं और न होंगी, पर्याप्ति पूर्ण होने के काल से पहले ही जिनका

मरण हो जाएगा अर्थात् अपनी आयु के काल में जिनकी पर्याप्ति कभी भी पूर्ण न हों उनको लब्ध्यपर्याप्त कहते हैं। इनमें से जो जीव पर्याप्त नाम कर्म के उदय से युक्त हुआ करते हैं वे ही पर्याप्त और निवृत्यपर्याप्त माने गये हैं और जो अपर्याप्त नामकर्म के उदय से युक्त हैं वे ही लब्ध्यपर्याप्त हुआ करते हैं। इनकी पर्याप्ति वर्तमान आयु के उदयकाल में कभी भी पूर्ण नहीं हुआ करतीं। पर्याप्ति पूर्ण होने के काल से पूर्व ही उनका मरण हो जाया करता है, उनकी आयु पूर्ण हो जाती है जैसा कि वृहत् गोम्मटसार जीवकाण्ड की गाथा 122 की टीका में बताया है, वहाँ से अध्ययन करना चाहिए।

क्षुद्र भवों की संख्या

तिण्णिसया छत्तीसा, छवट्ठिसहस्सगाणि मरणाणि।
अंतोमुहुत्तकाले, तावदिया चेव खुद्दभवा।।36।।

त्रीणि शतानि षटत्रिंशत् षट्षष्टिसहस्रकाणि मरणानि।
अन्तर्मुहूर्तकाले तावन्तश्चैव क्षुद्रभवाः।।36।।

अर्थ—एक अंतर्मुहूर्त में एक लब्ध्यपर्याप्तक जीव छ्यासठ हजार तीन सौ छत्तीस बार मरण और उतने ही भवों—जन्मों को भी धारण कर सकता है। इन भवों को क्षुद्रभव शब्द से कहा गया।

भावार्थ—एक लब्ध्यपर्याप्तक जीव यदि निरंतर जन्म मरण करे तो अंतर्मुहूर्त काल में 66,336 जन्म और उतने ही मरण कर सकता है। इससे अधिक नहीं कर सकता।

इन भवों को क्षुद्र भव इसलिये कहते हैं कि इनसे अल्प स्थिति वाला अन्य कोई भी भव नहीं पाया जाता। इन भवों में से प्रत्येक का काल प्रमाण श्वांस का अठारहवाँ भाग है। फलतः त्रैराशिक के अनुसार 66,336 भवों के श्वांसों का प्रमाण 3,685-1/3 होता है। इतने उच्छ्वासों के समूह प्रमाण अंतर्मुहूर्त में पृथ्वीकायिक से लेकर पंचेन्द्रिय तक लब्ध्यपर्याप्तक जीवों के क्षुद्रभव 66,336 हो जाते हैं। ध्यान रहे (3,773 उच्छ्वासों का एक मुहूर्त होता है)।

---

1. गाथा नं.-122।

पर्याप्ति प्ररूपणा सार

पर्याप्ति—ग्रहण किये गये आहार वगर्णा को खल-रस भाग आदि रूप परिणमन कराने की जीव की शक्ति के पूर्ण हो जाने को ''पर्याप्ति'' कहते हैं। ये पर्याप्तियाँ जिनके पाई जाएं उनको पर्याप्त और जिनकी वह शक्ति पूर्ण न हो उन जीवों को अपर्याप्त कहते हैं। जिस प्रकार कि घट, पट आदि द्रव्य बन चुकने पर पूर्ण और उससे पूर्व अपूर्ण कहे जाते हैं।

पर्याप्तियों के भेद—आहार, शरीर, इंद्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन ये पर्याप्ति के छह भेद हैं। एक शरीर को छोड़कर दूसरे नवीन शरीर के लिए कारणभूत जिन नोकर्म वर्गणाओं को जीव ग्रहण करता है उनको खल-रस भागरूप परिणमाने की शक्ति के पूर्ण हो जाने को ''आहार'' पर्याप्ति कहते हैं। उनमें से खल भाग को हड्डी आदि कठिन अवयव रूप और रस भाग द्रवभाग रूप परिणमाने की शक्ति की पूर्णता हो जाने को शरीर पर्याप्ति कहते हैं, इत्यादि।

पर्याप्ति के स्वामी—एकेन्द्रिय जीवों के प्रारंभ से चार पर्याप्तियाँ होती हैं। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों की मन के बिना पाँच पर्याप्तियाँ एवं सैनी पंचेन्द्रिय जीवों की छहों पर्याप्तियाँ होती हैं।

ये जीव अपनी-अपनी पर्याप्तियों को प्रारंभ युगपत् करते हैं किन्तु उनकी पूर्ति क्रम-क्रम से होती है। सबका अलग-अलग काल भी अंतर्मुहूर्त है और सभी पर्याप्तियों के पूर्ण हो जाने में जितना काल लगता है वह भी अंतर्मुहूर्त ही है। कारण यह कि असंख्यात समय वाले अंतर्मुहूर्त के भी असंख्यात ही भेद हो जाते हैं।

सामान्यतया जिनकी पर्याप्तियाँ नियम से पूर्ण हो जाती हैं वे पर्याप्त एवं जिनकी पर्याप्तियाँ पूर्ण नहीं होती हैं वे अपर्याप्त कहलाते हैं। अपर्याप्त के दो भेद हैं—निवृत्यपर्याप्त और लब्ध्यपर्याप्त।

निवृत्यपर्याप्त का लक्षण—पर्याप्ति नाम कर्म के उदय से जीव अपनी-अपनी पर्याप्तियों से पूर्ण हो जाता है तथापि जब तक उसकी शरीर पर्याप्ति पूर्ण नहीं होती है तब तक उसको निर्वृत्यपर्याप्त कहते हैं अर्थात्

इंद्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन इन पर्याप्तियों के पूर्ण नहीं होने पर भी यदि शरीर पर्याप्ति पूर्ण हो गई है तो वह जीव पर्याप्त कहलाता है किन्तु उससे पूर्व निर्वृत्यपर्याप्त कहा जाता है। इस निर्वृत्यपर्याप्त जीव के नियम से अपनी-अपनी पर्याप्तियाँ पूर्ण हो जावेंगी क्योंकि इसके पर्याप्त नाम कर्म का उदय है। यदि एकेन्द्रिय है तो 4, विकलेन्द्रिय जीवों के 5 और संज्ञी जीव के 6 पर्याप्तियाँ पूर्ण अवश्य होती हैं।

लब्ध्यपर्याप्त का लक्षण

अपर्याप्त नामक नामकर्म के उदय से जो जीव अपने-अपने योग्य पर्याप्तियों को पूर्ण न करके अंतर्मुहूर्त काल में ही मरण को प्राप्त हो जाय उसे लब्ध्यपर्याप्त कहते हैं। **लब्धि—**अपने-अपने योग्य पर्याप्तियों को पूर्ण करने की योग्यता की प्राप्ति का होना। वह जिनकी पर्याप्ति पूर्ण नहीं होगी उसे लब्ध्यपर्याप्त कहते हैं। इनकी जघन्य और उत्कृष्ट दोनों की आयु अंतर्मुहूर्त मात्र ही है, यह अंतर्मुहूर्त एक श्वांस के अठारहवें भाग प्रमाण होता है। इस प्रकार के लब्ध्यपर्याप्तक जीव एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय पर्यंत सब में ही पाये जाते हैं।

यदि एक जीव एक अंतुर्मुहूर्त में लब्ध्यपर्याप्तक अवस्था में अधिक से अधिक भवों को धारण करे तो कितने कर सकता है ?

अंतुर्मुहूर्त काल में यदि यह जीव निरंतर जन्म-मरण करे तो छ्यासठ हजार तीन सौ छत्तीस (66,336) बार कर सकता है, इन भवों को ही क्षुद्रभव कहते हैं। इनको क्षुद्रभव इसलिये कहते हैं कि इनसे अल्प आयु वाला अन्य कोई भी भव नहीं हो सकता है। इन भवों में से प्रत्येक के काल का प्रमाण श्वांस के अठारहवें भाग प्रमाण है। फलतः त्रैराशिक के अनुसार 66,336 भवों के श्वासों का प्रमाण-3,685-1/3 होता है। इतने उच्छ्वासों के समूह प्रमाण अंतुर्मुहूर्त में पृथ्वीकायिक से लेकर पंचेन्द्रिय तक लब्ध्यपर्याप्त जीवों के क्षुद्रभव 66,336 हो जाते हैं। ध्यान रहे 3,773 उच्छ्वासों का एक मुहूर्त होता है।

एकेन्द्रियों के पृथक्-पृथक् क्षुद्रभव—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और साधारण वनस्पति इन पाँच के बादर-सूक्ष्म से दो-दो भेद कर देने से दश

हो गये और इनमें प्रत्येक वनस्पति मिलाने से ग्यारह भेद हो गये मतलब प्रत्येक वनस्पति में बादर-सूक्ष्म दो भेद नहीं हैं केवल बादर ही एक भेद है। इनके प्रत्येक के 6012 भेद होते हैं अतः 11 को 6012 से गुणा करने पर 11X6012=66,132 भेद हो जाते हैं।

सभी लब्ध्यपर्याप्तक के पृथक् क्षुद्रभव—एकेन्द्रियों के 66,132, द्वीन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक के 80 भव, त्रीन्द्रिय के 60, चतुरिन्द्रिय के 40, पंचेन्द्रिय के 24 ऐसे सभी मिलकर 66,123+80+60+40+24=66,336 हो जाते हैं।

लब्ध्यपर्याप्त जीवों के एक मिथ्यात्व गुणस्थान ही होता है। निर्वृत्यपर्याप्त में मिथ्यात्व, सासादन, असंयत, अप्रमत्तविरत और सयोगिकेवली ऐसे पाँच गुणस्थान हो सकते हैं और पर्याप्तक जीवों के सभी गुणस्थान हो सकते हैं।

छठे गुणस्थान में निर्वृत्यपर्याप्त अवस्था आहारक ऋद्धिधारी मुनि के आहारक पुतला निकलते समय आहारक काययोग में होती है उसी अपेक्षा से कहा है। सयोगकेवली के समुद्घात अवस्था में कपाट, प्रतर और लोक पूरण ऐसे तीनों समुद्घातों में योग पूर्ण नहीं हैं अतः उस समय वहाँ गौणता से निर्वृत्यपर्याप्त अवस्था कही गई है।

द्वितीयादि छह नरक, ज्योतिष, व्यंतर और भवनवासी देव तथा सम्पूर्ण स्त्रियाँ, इनको अपर्याप्त अवस्था में सम्यक्त्व नहीं होता मतलब सम्यग्दृष्टि मरकर इन उपर्युक्त पर्यायों में जन्म नहीं लेता है और सासादन सम्यग्दृष्टि मरकर नरक में नहीं जाता है अतः नरक में अपर्याप्त अवस्था में सासादन गुणस्थान नहीं होता है।

इस पर्याप्ति प्रकरण को पढ़कर लब्ध्यपर्याप्तक अवस्था के क्षुद्रभवों में जन्म लेने से डरना चाहिए और हमें जो पर्याप्त अवस्था प्राप्त हुई है, इसमें रत्नत्रय को पूर्ण करने का प्रयत्न करना चाहिये।

(चतुर्थ अधिकार)

4. प्राणप्ररूपणा

प्राण का लक्षण

बाहिरपाणेहिं जहा, तहेव अब्भंतरेहिं पाणेहिं।
पाणंति जेहिं जीवा, पाणा ते होंति णिद्दिट्ठा।।37।।

बाह्यप्राणैर्यथा तथैवाभ्यन्तरैः प्राणैः।
प्राणन्ति यैर्जीवाः प्राणास्ते भवन्ति निर्दिष्टाः।।37।।

अर्थ—जिस प्रकार अभ्यन्तर प्राणों के कार्यभूत नेत्रों का खोलना, वचन प्रवृत्ति, उच्छ्वास, निःश्वास आदि बाह्य प्राणों के द्वारा जीव जीते हैं, उस ही प्रकार जिन अभ्यंतर इन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशमादि के द्वारा जीव में जीवितपने का व्यवहार हो उसको प्राण कहते हैं।

भावार्थ—जिनके सद्भाव में जीवितपने का वियोग होने पर मरणपने का व्यवहार हो उनको प्राण कहते हैं। ये प्राण पूर्वोक्त पर्याप्तियों के कार्यरूप हैं अर्थात् प्राण और पर्याप्ति में कार्य और कारण का अंतर है। पर्याप्ति कारण है और प्राण कार्य है क्योंकि गृहीत पुद्गलस्कन्ध विशेषों को इंद्रिय वचन आदि रूप परिणमावने की शक्ति की पूर्णता को पर्याप्ति और वचन व्यापार आदि की कारणभूत योग्यता शक्ति को तथा वचन आदि रूप प्रवृत्ति को प्राण कहते हैं।

प्राणों के नाम

पंच वि इंदियपाणा, मणवचिकायेसु तिण्णि बलपाणा।
आणापाणप्पाणा, आउगपाणेण होंति दस पाणा।।38।।

पंचापि इंद्रियप्राणाः मनोवचः कायेषु त्रीणि बलप्राणाः।
आनापानप्राणा आयुष्कप्राणेन भवन्ति दश प्राणाः।।38।।

अर्थ—पाँच इंद्रियप्राण—स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र। तीन बलप्राण—मनोबल, वचनबल, कायबल। एक श्वासोच्छ्वास तथा एक आयु इस प्रकार ये दश प्राण हैं।

प्राण प्ररूपणा सार

बाह्य उच्छ्वास आदि बाह्य प्राणों से तथा इंद्रियावरण कर्म के क्षयोपशम आदि अभ्यन्तर प्राणों से जिनमें जीवितपने का व्यवहार होता है वे जीव हैं अर्थात् जिनके सद्भाव में जीव में जीवितपने का और वियोग होने पर मरण्पने का व्यवहार हो, उनको प्राण कहते हैं। पर्याप्ति कारण है और प्राण कार्य है।

प्राणों के भेद—पाँच इंद्रिय—स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र। तीन बल—मनोबल, वचनबल, कायबल, एक श्वासोच्छ्वास तथा एक आयु इस प्रकार ये दश प्राण हैं।

प्राणों के स्वामी—एकेन्द्रिय के 4 प्राण—स्पर्शन इंद्रिय, कायबल, आयु और श्वासोच्छ्वास।

द्वीन्द्रिय के 6—उपर्युक्त चार प्राण, रसना इंद्रिय और वचनबल।

त्रीन्द्रिय के 7—उपर्युक्त 6 और घ्राणेन्द्रिय।

चतुरिन्द्रिय के 8—उपर्युक्त 7 और चक्षुरिन्द्रिय।

असंज्ञी पंचेन्द्रिय के 9—उपर्युक्त 8 और कर्णेन्द्रिय।

संज्ञी पंचेन्द्रिय के 10—मनोबल सहित सभी हैं।

अपर्याप्त जीवों में कुछ अंतर है—एकेन्द्रिय के 3 प्राण—स्पर्शन इंद्रिय, कायबल, आयु।

द्वीन्द्रिय के—उपर्युक्त 3 में एक रसना इंद्रिय होने से 4।

त्रीन्द्रिय के—उपर्युक्त चार में घ्राण इंद्रिय होने से 5।

चतुरिन्द्रिय के—उपर्युक्त 5 में चक्षुरिन्द्रिय मिलने से 6।

असंज्ञी और संज्ञी के—उपर्युक्त 6 में कर्णेन्द्रिय मिलने से 7 प्राण होते हैं अर्थात् अपर्याप्त अवस्था में श्वासोच्छ्वास, मनोबल और वचनबल नहीं होता है।

ये बाह्यप्राण और अभ्यंतर प्राण पौद्गलिक हैं। द्रव्यसंग्रह में जीव के दस प्राणों को व्यवहार नय से प्राण माना है एवं निश्चय से चेतना लक्षण को प्राण माना है।

(पंचम अधिकार)

5. संज्ञा

संज्ञा का लक्षण

इह जाहि बाहिया वि य, जीवा पावंति दारुणं दुक्खं।
सेवंता वि य उभये, ताओ चत्तारि सण्णाओ।।39।।

इह याभिर्बाधिता अपि च जीवाः प्राप्नुवन्ति दारुणं दुःखम्।
सेवमाना अपि च उभयस्मिन् ताश्चतस्रः संज्ञाः।।39।।

अर्थ—जिनसे संक्लेशित होकर जीव इस लोक में और जिनके विषय का सेवन करने से दोनों ही भवों में दारुण दुःख को प्राप्त होते हैं उनको संज्ञा कहेत हैं। उसके विषय भेद के अनुसार चार भेद हैं—आहार, भय, मैथुन और परिग्रह।

भावार्थ—संज्ञा नाम वांछा का है। जिसके निमित्त से दोनों ही भवों में दारुण दुःख की प्राप्ति होती है उस वांछा को संज्ञा कहते हैं। उसके चार भेद हैं—आहार संज्ञा, भय संज्ञा, मैथुन संज्ञा और परिग्रह संज्ञा। क्योंकि इन आहारादिक चारों ही विषयों की प्राप्ति और अप्राप्ति दोनों ही अवस्थाओं में यह जीव संक्लिष्ट और पीड़ित रहा करता है। इस भव में भी दुःखों को अनुभव करता है और उसके द्वारा अर्जित पाप कर्म के उदय से पर भव में भी सांसारिक दुखों को भोगता है।

आहार संज्ञा का स्वरूप

आहारदंसणेण य, तस्सुवजोगेण ओमकोठाए।
सादिदरुदीरणाए, हवदि हु आहारसण्णा हु।।40।।

आहारदर्शनेन च तस्योपयोगेन अवमकोष्ठतया।
सातेतरोदीरणया भवति हि आहारसंज्ञा हि।।40।।

अर्थ—आहार के देखने से अथवा उसके उपयोग से और पेट के खाली होने से तथा असाता वेदनीय कर्म के उदय और उदीरणा होने पर जीव के नियम से आहार संज्ञा उत्पन्न होती है।

भावार्थ–किसी उत्तम रसयुक्त विशिष्ट आहार के देखने से अथवा पूर्वानुभूत भोजन का स्मरण आदि करने से अथवा पेट के खाली हो जाने से और असाता वेदनीय कर्म का तीव्र उदय एवं उदीरणा होने से आहार संज्ञा अर्थात् आहार की वांछा उत्पन्न होती है।

इस तरह आहार संज्ञा के चार कारण हैं जिनमें अंतिम एक असाता वेदनीय की उदीरणा अथवा तीव्र उदय अंतरंग कारण है और शेष तीन बाह्य कारण हैं।

भयसंज्ञा का स्वरूप

अइभीमदंसणेण य, तस्सुवजोगेण ओमसत्तीए।
भयकम्मुदीरणाए, भयसण्णा जायदे चदुहिं।।41।।

अतिभीमदर्शनेन च तस्योपयोगेन अवमसत्वेन।
भयकर्मोदीरणया भयसंज्ञा जायते चतुर्भिः।।41।।

अर्थ—अत्यंत भयंकर पदार्थ के देखने से अथवा पहले देखे हुए भयंकर पदार्थ के स्मरणादि से, यद्वा शक्ति के हीन होने पर और अंतरंग में भयकर्म का तीव्र उदय, उदीरणा होने पर भयसंज्ञा उत्पन्न हुआ करती है।

भावार्थ—भय से उत्पन्न होने वाली भाग जाने की या किसी के शरण में जाने की अथवा छिपने एवं शरण ढूंढने की जो इच्छा होती है उसी को भयसंज्ञा कहते हैं। इसके चार कारण हैं जिनमें भयकर्म की उदीरणा अंतरंग कारण है और शेष तीन बाह्य कारण हैं।

मैथुन संज्ञा का स्वरूप

पणिदरसभोयणेण य, तस्सुवजोगे कुसील सेवाए।
वेदस्सुदीरणाए, मेहुणसण्णा हवदि एवं।।42।।

प्रणीतरसभोजनेन च तस्योपयोगे कुशीलसेवया।
वेदस्योदीरणया मैथुनसंज्ञा भवति एवम्।।42।।

अर्थ—कामोत्तेजक स्वादिष्ट और गरिष्ठ पदार्थों का भोजन करने से

और कामकथा नाटक आदि के सुनने एवं पहले के भुक्त विषयों का स्मरण आदि करने से तथा कुशील का सेवन, विट आदि कुशीली पुरुषों की संगति, गोष्ठी आदि करने से और वेद कर्म का तीव्र उदय या उदीरणा आदि से मैथुन संज्ञा होती है।

भावार्थ—मैथुन कर्म या सुरत व्यापार की इच्छा को मैथुन संज्ञा कहते हैं। इसके मुख्यतया ये चार कारण हैं जिनमें वेद कर्म का उदय या उदीरणा अंतरंग और शेष तीन बाह्य कारण हैं।

परिग्रह संज्ञा का स्वरूप

उपयरणदंसणेण य, तस्सुवजोगेण मुच्छिदाए य।
लोहस्सुदीरणाए, परिग्गहे जायदे सण्णा।।43।।

उपकरणदर्शनेन च तस्योपयोगेन मूर्च्छिताये च।
लोभस्योदीरणया परिग्रहे जायते संज्ञा।।43।।

अर्थ—इत्र, भोजन, उत्तम वस्त्र, स्त्री, धन, धान्य आदि भोगोपभोग के साधनभूत बाह्य पदार्थों के देखने से अथवा पहले के भुक्त पदार्थों का स्मरण या उनकी कथा का श्रवण आदि करने से और ममत्व परिणामों के परिग्रहाद्यर्जन की तीव्र गृद्धि के भाव होने से एवं लोभ कर्म का तीव्र उदय या उदीरणा होने से, इन चार कारणों से परिग्रह संज्ञा उत्पन्न होती है।

भावार्थ—भोगोपभोग के बाह्य साधनों के संचय आदि की इच्छा को परिग्रह संज्ञा कहते हैं। इसके मुख्यतया चार कारण हैं जो कि इस गाथा में बताये गये हैं। इनमें से लोभ की तीव्र उदय-उदीरणा अंतरंग कारण और बाकी के तीन बाह्य कारण हैं।

संज्ञा प्ररूपणासार

संज्ञा—जिनके द्वारा संक्लेश को प्राप्त होकर जीव इस लोक में दुःख को प्राप्त करते हैं और जिनका सेवन करके दोनों ही भवों में दारुण दुःखों को प्राप्त होते हैं उनको ''संज्ञा'' कहते हैं।

संज्ञा नाम वाञ्छा का है। जिसके निमित्त से दोनों ही भवों में दारुण दुःख की प्राप्ति होती है उस वाञ्छा को संज्ञा कहते हैं। उसके चार भेद हैं—आहारसंज्ञा, भयसंज्ञा, मैथुनसंज्ञा और परिग्रहसंज्ञा। इन आहार आदि चारों ही विषयों को प्राप्त करके और न प्राप्त करके भी दोनों ही अवस्थाओं में यह जीव संक्लेश और पीड़ा को प्राप्त होते रहते हैं। इस भव में भी दुःखों का अनुभव करते हैं और उसके द्वारा अर्जित पाप कर्म के उदय से परभव में सांसारिक दुःखों को भोगते हैं इसलिये ये संज्ञायें दुःखदाई हैं।

आहार संज्ञा—आहार के देखने से अथवा उसके उपयोग से और पेट के खाली होने से यद्वा असातावेदनीय कर्म का तीव्र उदय एवं उदीरणा होने से आहार संज्ञा अर्थात् आहार की वाञ्छा उत्पन्न होती है। इस तरह आहार संज्ञा के चार कारण हैं जिनमें अंतिम एक असातावेदनीय की उदीरणा अथवा तीव्र उदय अंतरंग कारण है और तीन बाह्य कारण हैं।

भय संज्ञा—अत्यंत भयंकर पदार्थ के देखने से अथवा पहले देखे हुए भयंकर पदार्थ के स्मरण आदि से यद्वा शक्ति के होने पर और अंतरंग में भयकर्म का तीव्र उदय, उदीरणा होने पर भयसंज्ञा उत्पन्न हुआ करती है। इसके चार कारणों में भी भय कर्म की उदीरणा अंतरंग कारण है और शेष तीन बाह्य कारण हैं।

मैथुन संज्ञा—कामोद्रेक, स्वादिष्ट और गरिष्ठ रसयुक्त पदार्थों का भोजन करने से, कामकथा, नाटक आदि के सुनने एवं पहले के भुक्त विषयों का स्मरण आदि करने से तथा कुशील का सेवन, बिट आदि कुशीली पुरुषों की संगति, गोष्ठी आदि करने से और वेद कर्म का उदय या उदीरणा आदि से मैथुन संज्ञा होती है। इसमें भी चार कारणों में वेद कर्म का उदय या उदीरणा अंतरंग कारण है और शेष तीन बाह्य कारण हैं।

परिग्रह संज्ञा—उत्तम वस्त्र, स्त्री, धन, धान्य आदि बाह्य पदार्थों के देखने से अथवा पहले के भुक्त पदार्थों का स्मरण या उनकी कथा श्रवण आदि करने से, परिग्रह अर्जन के तीव्र ममत्व भाव होने से एवं लोभ कर्म

का तीव्र उदय या उदीरणा होने से इन चार कारणों से परिग्रह संज्ञा उत्पन्न होती है। इनमें से लोभ कर्म का तीव्र उदय या उदीरणा अंतरंग कारण है शेष तीन बाह्य कारण हैं।

संज्ञाओं के स्वामी—छठे गुणस्थान तक आहारसंज्ञा है, आगे सातवें से ऊपर के गुणस्थानों में नहीं होती है क्योंकि छठे से आगे असाता वेदनीय का तीव्र उदय अथवा उदीरणा नहीं है। भयसंज्ञा और मैथुनसंज्ञा भी छठे से आगे नवमें तक उपचार से ही है क्योंकि वहाँ ध्यान अवस्था है। परिग्रह संज्ञा दशवें तक उपचार से ही है क्योंकि वहाँ तक लोभ कषाय का सूक्ष्म उदय पाया जाता है। छठे से आगे इन संज्ञाओं की प्रवृत्ति मानने पर ध्यान अवस्था नहीं बन सकती है अतः मात्र कर्मों के उदय आदि के अस्तित्व से ही इनका अस्तित्व आगे माना गया है।

(छठा अधिकार)

6. मार्गणा अधिकार-
गति मार्गणा

मार्गणा का लक्षण

जाहि व जासु व जीवा, मग्गिज्जंते जहा तहा दिट्ठा।
ताओ चोदस जाणे, सुयणाणे मग्गणा होंति।।44।।

यभिर्वा यासु वा जीवा मृग्यन्ते यथा तथा दृष्टाः।
ताश्चतुर्दश जानीहि श्रुतज्ञाने मार्गणा भवन्ति।।44।।

अर्थ—प्रवचन में जिस प्रकार से देखे हों उसी प्रकार से जीवादि पदार्थों का जिन भावों के द्वारा अथवा जिन पर्यायों में विचार—अन्वेषण किया जाय उनको मार्गणा कहते हैं, उनके चौदह भेद हैं ऐसा समझना चाहिए।

भावार्थ—मार्गण शब्द का अर्थ होता है—अन्वेषण। अतएव जिन करणरूप परिणामों के द्वारा अथवा जिन अधिकरण रूप पर्यायों में जीव का अन्वेषण किया जा सके उनको कहते हैं मार्गणा। किन्तु ये परिणाम और पर्याय यद्वा-तद्वा कपोलकल्पित युक्तिविरुद्ध आगम द्वारा प्रतिपादित न होकर सर्वज्ञ वीतराग जिनेन्द्र भगवान के उपदिष्ट प्रवचन—श्रुत में जिस तरह से बताये गये हैं उसके अनुसार ही होने चाहिये अन्यथा जीवतत्त्व का ठीक-ठीक परिज्ञान नहीं हो सकता।

तात्पर्य यह है यह मार्गणा महाधिकार या तो जीव के उन असाधारण कारणरूप परिणामों का बोध कराता है जो कि गुणस्थानों की सिद्धि में साधन हैं अथवा अपनी (जीव की) उन अधिकरण रूप पर्यायों—अवस्थाओं को बताता है जिनमें कि विवक्षित गुणस्थानों की सिद्धि शक्य एवं प्राप्ति संभव है। यद्यपि ये परिणाम और पर्याय अशुद्ध जीव के होते हैं फिर भी उसकी शुद्धि में साधन और आधार हैं अतएव अन्वेष्य हैं। किन्तु ध्यान रहे जैनागम में जिस प्रकार से इनका वर्णन किया गया है उसी प्रकार से समझकर और तदनुसार ही उपयोग में लाने पर ये वास्तव में कार्यकारी हो

सकते हैं। मुख्यतया इन परिणाम या पर्यायरूप मार्गणाओं के 14 भेद हैं जो कि आगे गिनाये गये हैं।

चौदह मार्गणाओं के नाम

गइइंदियेसु काये, जोगे वेदे कसायणाणे य।
संजमदंसणलेस्सा, भवियासम्मत्तसण्णि आहारे।।45।।

गतीन्द्रियेषु काये योगे वेदे कषायज्ञाने च।
संयमदर्शनलेश्याभव्यतासम्यक्त्वसंज्ञयाहारे।।45।।

अर्थ—गति, इंद्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञा और आहार ये चौदह मार्गणा हैं।

भावार्थ—ऊपर मार्गणा का निरुक्त्यर्थ बताते समय करण और अधिकरण इस दो रूप में अर्थ किया गया है। किन्तु इस गाथा में सर्वत्र सप्तमी विभक्ति का निर्देश करके अधिकरण अर्थ ही व्यक्त किया गया है। इससे करणरूप अर्थ का निषेध नहीं समझना चाहिये। यद्यपि अधिकरण अर्थ की यहाँ मुख्यतया विवक्षा है ऐसा सूचित होता है। फिर भी गत्यादि पदों का अर्थ तृतीयान्त एवं सप्तम्यन्त दोनों ही तरह का माना गया है।

गति का लक्षण

गइउदयजपज्जाया, चउगइगमणस्स हेउ वा हु गई।
णारयतिरिक्खमाणुसदेवगई त्ति य हवे चदुधा।।46।।

गत्युदयजपर्यायः चतुर्गतिगमनस्य हेतुर्वा हि गतिः।
नारकर्तिर्यग्मानुषदेवगतिरिति च भवेत् चतुर्धा।।46।।

अर्थ—गति नाम कर्म के उदय से होने वाली जीव की पर्याय को अथवा चारों गतियों में गमन करने के कारण को गति कहते हैं। उसके चार भेद हैं—नरकगति, तिर्यग्गति, मनुष्यगति, देवगति।

भावार्थ—गति शब्द की निरुक्ति के अनुसार तीन तरह से ही निरुक्ति हो सकती है—गम्यते इति गतिः, गमनं वा गतिः और गम्यते अनेन सा गतिः।

इनमें से पहली निरुक्ति के अनुसार जीव को प्राप्त होने वाली किसी

भी वस्तु का नाम गति नहीं समझना चाहिए किन्तु गतिनाम कर्म के उदय से प्राप्त होने वाली जीव की पर्याय विशेष को ही गति शब्द से ग्रहण करना उचित है। इसी तरह गमन का अर्थ ग्रामादि के लिए जाना ऐसा न लेकर विवक्षित भव को छोड़कर दूसरे भव का धारण करना—भवांतर रूप में परिणत होना अर्थ ग्रहण करना चाहिए। तीसरी निरुक्ति के अनुसार नाम कर्म की उस प्रकृति को गति कहते हैं जो कि जीव की पर्याय भवान्तररूप परिणमन में कारण है किन्तु इस प्रकरण में कर्म अर्थ ग्रहण करने की मुख्यता नहीं है अर्थात् मार्गणा के इस प्रकरण में जीव की पर्याय अर्थ करना ही मुख्यतया विवक्षित है।

नरक गति का लक्षण

ण रमंति जदो णिच्चं, दव्वे खेत्ते य कालभावे य।
अण्णोण्णेहिं य जम्हा, तम्हा ते णारया भणिया।।47।।

न रमन्ते यतो नित्यं द्रव्ये क्षेत्रे च कालभावे च।
अन्योन्यैश्च यस्मात्तस्मात्ते नारता भणिताः।।47।।

अर्थ—जो द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव में स्वयं तथा परस्पर में प्रीति को प्राप्त नहीं होते उनको नारत (नारकी) कहते हैं।

भावार्थ—शरीर और इंद्रियों के विषयों में, उत्पत्ति, शयन, विहार, उठने, बैठने आदि के स्थान में, भोजन आदि के समय में अथवा और भी अनेक अवस्थाओं में जो स्वयं अथवा परस्पर में प्रीति (सुख) को प्राप्त न हों उनको नारत कहते हैं। इस गाथा में जो 'च' शब्द पड़ा है उससे इसका दूसरा भी निरुक्ति सिद्ध अर्थ समझना चाहिए अर्थात् जो नरकगति नामकर्म के उदय से हों उनको अथवा नरान्—मनुष्यों को कायन्ति—क्लेश पहुँचावें उनको नारक कहते हैं क्योंकि नीचे सातों ही भूमियों में रहने वाले नारकी निरंतर ही स्वाभाविक, शारीरिक, मानसिक, आगन्तुक तथा क्षेत्रजन्य इन पाँच प्रकार के दुःखों से दुखी रहते हैं।

तिर्यग्गति का स्वरूप

तिरियंति कुडिलभावं, सुविउलसण्णा णिगिट्ठिमण्णाणा।
अच्चंतपावबहुला, तम्हा तेरिच्छया भणिया।।48।।

तिरोचन्ति कुटिलभावं सुविबृतसंज्ञा निकृष्टमज्ञानाः।
अत्यन्तपापबहुलास्तस्मा त्तैरश्चका भणिताः।।48।।

अर्थ—जो मन, वचन, काय की कुटिलता को प्राप्त हों अथवा जिनकी आहारादि विषयक संज्ञा दूसरे मनुष्यों को अच्छी तरह प्रकट हो और जो निकृष्ट अज्ञानी हों तथा जिनमें अत्यन्त पाप का बाहुल्य पाया जाय उनको तिर्यंच कहते हैं।

भावार्थ—जिनमें कुटिलता की प्रधानता हो, क्योंकि प्रायः करके सब ही तिर्यंच जो उनके मन में होता है उसको वचन के द्वारा व्यक्त नहीं कर सकते क्योंकि उनके उस प्रकार की वचन शक्ति ही नहीं है और जो वचन से कहते हैं उसको काय से नहीं करते तथा जिनकी आहारादि संज्ञा प्रकट हो और श्रुत का अभ्यास तथा शुभोपयोगादि के न कर सकने से जिनमें अत्यंत अज्ञानता पाई जाए तथा मनुष्य की तरह महाव्रतादिक को धारण न कर सकने और सम्यग्दर्शन की विशुद्धि आदि के न हो सकने से जिनमें अत्यंत पाप का बाहुल्य पाया जाय उनको तिर्यंच कहते हैं।

तात्पर्य यह है कि निरुक्ति के अनुसार तिर्यंच गति का अर्थ माया की प्रधानता को बताता है। यथा—तिरः तिर्यग्भावं—कुटिलपरिणामं अंचन्ति इति तिर्यंचः। माया प्रधान परिणामों से संचित कर्म के उदय से यह गति–पर्याय प्राप्त होती है। यहाँ पर जो पर्यायाश्रित भाव हुआ करते हैं वे भी मुख्यतया कुटिलता को ही सूचित करते हैं। उनकी भाषा अव्यक्त होने से वे अपने मनोभावों को व्यक्त करने में असमर्थ रहा करते हैं। प्रायः मैथुन संज्ञा आदि मनुष्यों की तरह उनकी गूढ़ नहीं हुआ करती। मनुष्यों के समान इनमें विवेक, हेयोपादेय का भेद ज्ञान, श्रुताभ्यास, शुभोपयोग आदि भी नहीं पाया जाता। प्रभाव, सुख, द्युति, लेश्या आदि की अपेक्षा से भी वे मनुष्यों से निकृष्ट हैं। महाव्रतादि गुणों को वे धारण नहीं कर सकते। इस गति में जिनका प्रमाण सबसे अधिक है उन एकेन्द्रिय जीवों में तथा असंज्ञि पंचेन्द्रिय पर्यन्त त्रस जीवों में भी जिससे सम्यग्दर्शन प्राप्त हो सकता है ऐसी विशुद्धि नहीं पाई जाती अतएव यह पर्याय अत्यन्त पाप बहुल है। सारांश यह है कि जिसके होने पर यह भाव हुआ करते या पाये जाते हैं जीव की उस

द्रव्यपर्याय को ही तिर्यग्गति कहते हैं। मनुष्यों की अपेक्षा यह निकृष्ट पर्याय है, ऐसा समझना चाहिए।

मनुष्यगति का स्वरूप

मण्णंति जदो णिच्चं, मणेण णिउणा मणुक्कडा जम्हा।
मण्णुब्भवा य सव्वे, तम्हा ते माणुसा भणिदा।।49।।

मन्यन्ते यतो नित्यं मनसा निपुणा मनसोत्कटा यस्मात्।
मनूभद्वाश्च सर्वे तस्मात्ते मानुषा भणिताः।।49।।

अर्थ—जो नित्य ही हेय-उपादेय, तत्व-अतत्व, आप्त-अनाप्त, धर्म-अधर्म आदि का विचार करें और जो मन के द्वारा गुण दोषादि का विचार स्मरण आदि कर सकें, जो पूर्वोक्त मन के विषय में उत्कृष्ट हों, शिल्पकला आदि में भी कुशल हों तथा युग की आदि में जो मनुओं से उत्पन्न हों उनको मनुष्य कहते हैं।

भावार्थ—मन का विषय तीव्र होने से गुण दोषादि, विचार, स्मरण आदि जिनमें उत्कृष्ट रूप से पाया जाय, अवधानादि करने में जिनका उपयोग दृढ़ हो तथा कर्मभूमि की आदि में आदीश्वर भगवान् तथा कुलकरों ने जिनको व्यवहार का उपदेश दिया इसलिए जो उन्हीं की—मनुओं की संतान कहे या माने जाते हैं उनको मनुष्य कहते हैं क्योंकि अवबोधनार्थक मनु धातु से मनु शब्द बनता है और जो मनु की संतान हैं उनको कहते हैं मनुष्य। अतएव इस शब्द का यहाँ पर जो अर्थ किया गया है वह निरुक्ति के अनुसार है। लक्षण की अपेक्षा से अल्पारम्भ परिग्रह के परिणामों द्वारा संचित मनुष्य आयु और मनुष्यगति नामकर्म के उदय से जो ढाई द्वीप के क्षेत्र में उत्पन्न होने वाले हैं उनको कहते हैं मनुष्य। ये ज्ञान विज्ञान मन पवित्र संस्कार आदि की अपेक्षा अन्य जीवों से उत्कृष्ट हुआ करते हैं। जैसा कि निरुक्ति के द्वारा बताया गया है।

इस गाथा में एक 'यतः' शब्द है और दूसरा 'यस्मात्' शब्द है। अर्थ दोनों शब्दों का एक ही होता है। अतएव इनमें एक शब्द व्यर्थ पड़ता है। वह व्यर्थ पड़कर विशिष्ट अर्थ का ज्ञापन करता है कि यद्यपि लब्ध्यपर्याप्तक

मनुष्यों में यह विशेष स्वरूप—निरुक्त्यर्थ घटित नहीं होता फिर भी उनको मनुष्यगति नामकर्म और मनुष्य आयु के उदय रूप लक्षण मात्र की अपेक्षा से मनुष्य कहते हैं, ऐसा समझना चाहिए।

देवगति का स्वरूप

दीव्वंति जदो णिच्चं, गुणेहिं अट्ठेहिं दिव्वभावेहिं।
भासंतदिव्वकाया, तम्हा ते वण्णिया देवा।।50।।

दीव्यन्ति यतो नित्यं गुणैरष्टाभिर्दिव्यभावैः।
भासमानदिव्यकायाः तस्मात्ते वर्णिता देवाः।।50।।

अर्थ—जो देवगति में होने वाले या पाये जाने वाले परिणामों—परिणमनों से सदा सुखी रहते हैं और जो अणिमा, महिमा आदि आठ गुणों (ऋद्धियों) के द्वारा सदा अप्रतिहत (निर्बाध) रूप से विहार करते हैं और जिनका रूप लावण्य, यौवन आदि सदा प्रकाशमान रहता है, उनको परमागम में देव कहा है।

भावार्थ—देव शब्द दिव् धातु से बनता है जिसके कि क्रीड़ा, विजिगीषा, व्यवहार, द्युति, स्तुति, मोह, मद आदि अनेक अर्थ होते हैं। अतएव निरुक्ति के अनुसार जो मनुष्यों में न पाये जा सकने वाले प्रभाव से युक्त हैं तथा कुलाचलों पर वनों में या महासमुद्रों में सपरिवार विहार—क्रीड़ा किया करते हैं, बलवानों को भी जीतने का भाव रखते हैं, पंचपरमेष्ठियों या अकृत्रिम चैत्य, चैत्यालयों आदि की स्तुति वंदना किया करते हैं, सदा पंचेन्द्रियों से संबंधित विषयों के भोगों से मुद्रित रहा करते हैं, जो विशिष्ट दीप्ति के धारण करने वाले हैं, जिनका शरीर धातुमल दोष रहित एवं अविच्छिन्न रूप लावण्य से युक्त सदा यौवन अवस्था में रहा करता है और जो अणिमा आदि आठ प्रकार की ऋद्धियों को धारण करने वाले हैं उनको देव कहते हैं। यह देवपर्याय के स्वरूप मात्र का निदर्शन है। लक्षण के अनुसार जो अपने कारणों से संचित देवायु और देवगति नाम कर्म के उदय से प्राप्त पर्याय को धारण करने वाले संसारी जीव हैं वे सब देव हैं।

सिद्धगति का स्वरूप

जाइजरामरणभया, संजोगविजोगदुक्खसण्णाओ।
रोगादिगा य जिस्से, ण संति सा होदि सिद्ध गई।।51।।

जातिजरामरणभया, संयोगवियोगदुःखसंज्ञाः।
रोगादिकाश्च यस्यां न संति सा भवति सिद्धगतिः।।51।।

अर्थ—एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक पाँच प्रकार की जाति, बुढ़ापा, मरण, भय, अनिष्ट संयोग, इष्ट वियोग, इनसे होने वाले दुःख, आहारादि विषयक संज्ञाएँ—वांछाएं और रोग आदि की व्याधि इत्यादि विरुद्ध विषय जिस गति में नहीं पाये जाते उसको सिद्धगति कहते हैं।

भावार्थ—जाति नामकर्म के उदय से प्राप्त होने वाली एकेन्द्रियादिक जीव की पाँच अवस्थाएँ, आयुकर्म के विपाक आदि कारणों से शरीर के शिथिल होने पर जरा, नवीन आयु के बंधपूर्वक भुज्यमान आयु के अभाव से होने वाले प्राणों के त्याग रूप मरण, अनर्थ की आशंका करके अपकारक वस्तु से दूर रहने या भागने की इच्छारूप भय, क्लेश के कारणभूत अनिष्ट पदार्थ की प्राप्ति रूप संयोग, सुख के कारणभूत अभीष्ट पदार्थ के दूर हो जाने रूप वियोग, इनसे होने वाले अन्य भी अनेक प्रकार के दुःख तथा आहार आदि विषयक तीन प्रकार की संज्ञाएँ, शरीर की अस्वस्थता रूप अनेक प्रकार की व्याधि तथा आदि शब्द में मानभंग-वध-बंधन आदि दुःख जिस गति में अपने-अपने कारणभूत कर्मों का अभाव हो जाने से नहीं पाये जाते उसको सिद्धगति कहते हैं।

गति मार्गणा के चार ही भेद हैं क्योंकि वह उस नाम कर्म विशेष के उदय की अपेक्षा रखता है जो कि गति नाम से ही कहा गया है और जिसके चार ही भेद हैं किन्तु जीव की जिस गति—द्रव्यपर्याय विशेष को यहाँ बताया गया है वह मार्गणातीत है। वह किसी कर्म के उदय से नहीं किन्तु समस्त कर्मों के क्षय से प्रादुर्भूत हुआ करती है। अतएव चारों गतियों के अनंतर इसका पृथक् वर्णन किया गया है और सम्पूर्ण कर्मजन्य विकारी भावों से रहित इसको बताया गया है। इस अवस्था में आत्मद्रव्य के सभी

स्वाभाविक गुणों का जो सद्भाव रहता है।

पर्याप्त मनुष्यों की संख्या

तलली नमधुगविमलंधूमसिलागाविचोरभयमेरू।
तटहरिखझसा होंति हु, माणुसपज्जत्तसंखंका।।52।।

तलली नमधुगविमलंधूमसिलागाविचोरभयमेरू।
तटहरिखझसा भवन्ति हि मानुषपर्याप्तसंख्यांकाः।।52।।

अर्थ—तकार से लेकर सकारपर्यन्त जितने अक्षर इस गाथा में बताये हैं, उतने ही अंकप्रमाण पर्याप्त मनुष्यों की संख्या है।

भावार्थ—इस गाथा में तकारादि अक्षरों के अंकों का ग्रहण करना चाहिये, परन्तु किस अक्षर से किस अंक का ग्रहण चाहिए इसके लिये 'कटपयपुरस्थवर्णैर्नवनवपंचाष्टकल्पितैः क्रमशः। स्वरञनशून्यं संख्यामात्रोपरि-माक्षरं त्याज्यम्'' यह गाथा उपयोगी है। अर्थात् क से लेकर आगे के झ तक के नव अक्षरों से क्रम से एक दो आदि नव अंक समझने चाहिए। इस प्रकार ट से लेकर नव अंक और प से लेकर पाँच अंक तथा य से लेकर आठ अक्षरों से आठ अंक एवं सोलह स्वर और न इनसे शून्य (0) समझना चाहिए। किन्तु मात्रा और उपरिम अक्षर, इससे कोई भी अंक ग्रहण नहीं करना चाहिए। इस नियम से और ''अंकों की विपरीतगति होती है'' इस नियम के अनुसार इस गाथा में कहे हुए अक्षरों से पर्याप्त मनुष्यों की संख्या 79228162514264337593543950336 निकलती है।

गतिमार्गणासार

मार्गणा—जिनके द्वारा अथवा जिनमें जीवों का मार्गण्—अन्वेषण किया जाता है उन्हें मार्गणा कहते हैं। मार्गणा के 14 भेद हैं।

गति, इंद्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञा और आहार ये चौदह मार्गणा हैं।

मार्गणा के दो भेद भी हैं—सान्तर और निरंतर। उपर्युक्त चौदह मार्गणायें निरंतर मार्गणा कहलाती हैं जिनमें अंतर—विच्छेद नहीं पड़ता

उनको निरंतर मार्गणा कहते हैं। संसारी जीवों के उपर्युक्त 14 मार्गणाओं में से किसी का विच्छेद नहीं पड़ता वे सभी जीवों के और सदा ही पाई जाती है इसलिए निरंतर मार्गणा कही जाती हैं और जिनमें अंतर—विच्छेद पड़ जाता है उन्हें सान्तर मार्गणा कहते हैं अर्थात् कुछ मार्गणा ऐसी भी हैं कि जिनमें समय के एक नियत प्रमाण तक विच्छेद पाया जाता है। उन्हीं को सांतर मार्गणा कहते हैं।

ये सांतर मार्गणाएँ आठ हैं—उपशम सम्यक्त्व, सूक्ष्मसांपराय संयम, आहारककाय योग, आहारक मिश्र योग, वैक्रियक मिश्र काययोग, लब्ध्यपर्याप्त मनुष्य, सासादन सम्यक्त्व और मिश्र ये आठ सांतर मार्गणाएँ हैं। उपशम सम्यक्त्व का उत्कृष्ट विरह काल 7 दिन का है। सूक्ष्म सांपराय का महीना, आहारक योग का पृथक्त्व वर्ष, आहारक मिश्र का पृथक्त्व वर्ष, वैक्रियक मिश्र का 12 मुहूर्त, अपर्याप्त मनुष्य का पल्य से असंख्यातवें भाग, सासादन सम्यक्त्व और मिश्र का पल्य के असंख्यातवें भाग है और सबका जघन्य अंतर काल एक समय है। मतलब यह है कि यदि तीन लोक में कोई भी उपशम सम्यग्दृष्टि न रहे तो ऐसा अंतर सात दिन के लिए पड़ सकता है। उसके बाद कोई न कोई उपशम सम्यग्दृष्टि अवश्य ही होता है।

गति मार्गणा—गति नामकर्म के उदय से होने वाली जीव की पर्याय विशेष को अथवा चारों गतियों में गमन करने के कारण को गति कहते हैं। गति शब्द के निरुक्ति के अनुसार तीन तरह के अर्थ संभव हैं। गम्यते इति गतिः, गमनं वा गतिः और गम्यते अनेन सा गतिः। इन निरुक्ति अर्थों में गतिनाम कर्म के उदय से होने वाली जीव की नर, नारक आदि पर्याय विशेष को ही ग्रहण करना चाहिए।

गति के चार भेद हैं—नरकगति, तिर्यग्गति, मनुष्यगति, देवगति।

नरक गति—जो द्रव्य क्षेत्र काल भाव में स्वयं तथा परस्पर में प्रीति को प्राप्त नहीं होते हैं उनको 'नारत' कहते है अर्थात् जो किसी भी अवस्था में स्वयं या परस्पर में प्रीति को प्राप्त न हों वे नारत—नारकी कहलाते हैं अथवा जो 'नरान् कायंति' मनुष्यों को क्लेश पहुँचावें उनको नारक कहते हैं क्योंकि नीचे सातों ही भूमियों में रहने वाले नारकी निरंतर ही स्वाभाविक,

शारीरिक, मानसिक, आगंतुक तथा क्षेत्रजन्य इन पाँच प्रकार के दुःखों से दुःखी रहते हैं। नरकगति नामकर्म के उदय से जीव नरक में आयु पर्यंत महान् कष्टों का अनुभव करते रहते हैं। न रमन्ते इति नारता—नारका—इस व्युत्पत्ति के अनुसार नारकी आपस में कभी भी प्रेम नहीं करते हैं।

तिर्यग्गति—जो मन वचन काय की कुटिलता को प्राप्त हों अथवा जिनकी आहारादि संज्ञायें दूसरों को स्पष्ट दिखें और जो निकृष्ट अज्ञानी हों, जिनमें पाप की बहुलता हो वे तिर्यंच कहलाते हैं। निरुक्ति के अनुसार 'तिरः तिर्यग्भावं-कुटिल परिणामं अन्वति इति तिर्यंच' जो कुटिल-मायाचार परिणामों को प्राप्त करें वे तिर्यंच कहलाते हैं। इससे तिर्यंचगति में मायाचार की बहुलता जानी जाती है।

मनुष्यगति—जो नित्य ही तत्त्व-अतत्त्व, आप्त-अनाप्त आदि का विचार करें, जो मन के द्वारा गुण-दोषादि का विचार स्मरण आदि कर सकें, जो मन के विषय में उत्कृष्ट हों, शिल्प कलादि में कुशल हों तथा युग की आदि में मनुओं से उत्पन्न हुये हों वे मनुष्य कहलाते हैं। 'मनु अवबोधने' मनु धातु से मनु शब्द बनता है और जो मनु की संतान हैं उसे मनुष्य कहते हैं। यहाँ निरुक्ति के अनुसार अर्थ किया गया है।

देवगति—जो देवगति में होने वाली अणिमा, महिमा आदि आठ ऋद्धियों से सुखी हों, सदा रूप यौवन आदि में दीप्ति को प्राप्त हों वे देव कहलाते हैं। 'दीव्यंति इति देवः' दिव् धातु क्रीड़ा, विजिगीषा, दीप्ति, मोद आदि अर्थ में है उससे देव शब्द निष्पन्न हुआ है।

इन चारों गतियों के अर्थ में निरुक्ति अर्थ प्रधान है किन्तु यह सर्वथा लागू नहीं होता है। मुख्यतः जो उन-उन गति नामकर्म के उदय से उस-उस भव को प्राप्त करते हैं। वे उस गति वाले कहलाते हैं।

सिद्धगति—एकेन्द्रिय आदि जाति, वृद्धावस्था, मरण, भय, अनिष्ट संयोग, इष्ट वियोग, इनसे होने वाले दुःख, आहारादि वाञ्छायें, रोग आदि जिस गति में नहीं पाये जायें वह 'सिद्धगति' कहलाती है। इसे पंचम गति भी कहते हैं। यह सिद्धगति मार्गणातीत है, सभी कर्मों के क्षय से प्रकट होती है।

विशेष—तिर्यंचों के पाँच भेद हैं—सामान्य तिर्यंच, पंचेन्द्रिय तिर्यंच, पर्याप्त तिर्यंच, योनिमती (भावस्त्री वेदी) तिर्यंच और अपर्याप्त तिर्यंच।

मनुष्यों के चार भेद हैं—सामान्य मनुष्य, पर्याप्त मनुष्य, योनिमती (भावस्त्री वेदी) मनुष्य और लब्ध्यपर्याप्त मनुष्य। इनमें पंचेन्द्रिय भेद इसलिये पृथक नहीं हैं कि मनुष्यों में पंचेन्द्रिय मनुष्य ही होते हैं एकेन्द्रिय आदि नहीं होते हैं।

पर्याप्त मनुष्यों की संख्या—7 9 2 2 8 1 6 2 5 1 4 2 6 4 3 3 7 5 9 3 5 4 3 9 5 0 3 3 6 ।

इन चारों गतियों में एक मनुष्यगति ही ऐसी गति है कि जिसमें आठों कर्मों का नाश कर यह जीव सिद्धपद को प्राप्त कर सकता है अतएव इस दुर्लभ मनुष्य पर्याय को प्राप्त करके संयम को धारण करके संसार परम्परा को समाप्त करना चाहिये।

(सप्तम अधिकार)

7. इन्द्रिय मार्गणा

इंद्रिय का स्वरूप

अहमिंदा जह देवा, अविसेसं अहमहंति मण्णंता।
ईसंति एक्कमेक्कं, इंदा इव इन्दिये जाण।।53।।

अहमिन्द्रा यथा देवा अविशेषमहमहमिति मन्यमानाः।
ईशते एकैकमिन्द्रा इव इन्द्रियाणि जानीहि।।53।।

अर्थ—जिस प्रकार अहमिन्द्र देवों में दूसरे की अपेक्षा न रखकर प्रत्येक अपने-अपने को स्वामी मानते हैं, उसी प्रकार इंद्रियाँ भी हैं।

भावार्थ—इंद्र के समान जो हो उसको इंद्रिय कहते हैं। इसलिए जिस प्रकार नव ग्रैवेयकादिवासी अपने-अपने विषयों में दूसरों की अपेक्षा न रखने से अर्थात् इंद्र, सामानिक आदि भेदों तथा स्वामी, भृत्य आदि विशेष भेदों से रहित होने के कारण किसी की आज्ञा के वशवर्ती नहीं हैं अतएव स्वतंत्र होने से वे सब ही अपने-अपने को इंद्र मानते हैं। उसी प्रकार स्पर्शन आदि इंद्रियाँ भी अपने-अपने स्पर्शादिक विषयों में दूसरी रसना आदि की अपेक्षा न रखकर स्वतंत्र हैं। यही कारण है कि इनको इंद्रों-अहमिन्द्रों के समान होने से इंद्रिय कहते हैं, क्योंकि निरुक्ति के अनुसार यह अर्थ सिद्ध है।

इन्द्रिय की अपेक्षा से जीवों के भेद कहते हैं–

फासरसगंधरूवे, सद्दे णाणं च चिण्हयं जेसिं।
इगिबितिचदुपंचिंदिय, जीवा णियभेयभिण्णाओ।।54।।

स्पर्शरसगंधरूपे शब्दे ज्ञानं च चिन्हकं येषाम्।
एकद्वित्रिचतुःपंचेन्द्रियजीवा निजभेदभिन्ना ओ।।54।।

अर्थ—जिन जीवों के बाह्य चिन्ह (द्रव्येन्द्रिय) और उसके द्वारा होने वाला स्पर्श, रस, गंध, रूप, शब्द इन विषयों का ज्ञान हो उनको क्रम से एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय जीव कहते हैं और इनके भी अनेक अवान्तर भेद हैं।

भावार्थ—जिन जीवों के स्पर्शविषयक ज्ञान और उसका अवलम्बनरूप द्रव्येन्द्रिय मौजूद हो, उनको एकेन्द्रिय जीव कहते हैं। इसी प्रकार अपने-अपने अवलम्बनरूप द्रव्येन्द्रिय के साथ-साथ जिन जीवों के रसविषयक ज्ञान हो उनको द्वीन्द्रिय और गंधविषयक ज्ञान वालों को त्रीन्द्रिय तथा रूपविषयक ज्ञान वालों को चतुरिन्द्रिय और शब्दविषयक ज्ञान वालों को पंचेन्द्रिय जीव कहते हैं। इन एकेन्द्रियादि जीवों के भी अनेक अवान्तर भेद हैं तथा आगे-आगे की इन्द्रिय वालों के पूर्व-पूर्व की इन्द्रिय अवश्य होती है। जैसे रसनेन्द्रिय वालों के स्पर्शनेन्द्रिय अवश्य होगी और घ्राणेन्द्रिय वालों के स्पर्शन और रसना अवश्य होगी। इत्यादि पंचेन्द्रिय पर्यन्त ऐसा ही समझना।

इस प्रकार एकेन्द्रियादि जीवों के इन्द्रियों के विषय की वृद्धि का क्रम बताकर अब इन्द्रिय वृद्धि का क्रम बताते हैं–

एइंदियस्स फुसणं, एक्कं वि य होदि सेसजीवाणं।
होंति कमउड्ढियाइं, जिब्भाघाणच्छिसोत्ताइं।।55।।

एकेन्द्रियस्य स्पर्शनमेकमपि च भवति शेषजीवानाम्।
भवन्ति क्रमवर्द्धितानि जिह्वाघ्राणाक्षिश्रोत्राणि।।55।।

अर्थ—एकेन्द्रिय जीव के एक स्पर्शनेन्द्रिय ही होती है। शेष जीवों के क्रम से जिह्वा, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र बढ़ जाते हैं।

भावार्थ—एकेन्द्रिय जीव के केवल स्पर्शनेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय के स्पर्शन, रसना (जिह्वा), त्रीन्द्रिय के स्पर्शन, रसना, घ्राण (नासिका), चतुरिन्द्रिय के स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और पंचेन्द्रिय के स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र होते हैं।

इंद्रियों का आकार

चक्खूसोदं घाणं, जिब्भायारं मसूरजवणाली।
अतिमुत्तखुरप्पसमं, फासं तु अणेयसंठाणं।।56।।

चक्षुः श्रोत्रघ्राणजिह्वाकारं मसूरयवनाल्यः।
अतिमुक्तक्षुरप्रसमं स्पर्शनं तु अनेक संस्थानम्।।56।।

अर्थ—मसूर के समान चक्षु का, जव की नली के समान श्रोत्र का,

तिल के फूल के समान घ्राण का तथा खुरपा के समान जिह्वा का आकार है और स्पर्शनेन्द्रिय के अनेक आकार हैं।

भावार्थ—पूर्व में भावनेन्द्रियों के स्वरूप विषय क्रम वृद्धि विषय क्षेत्र का वर्णन हो चुका है किन्तु द्रव्येन्द्रियों का वर्णन बाकी है अतएव अब उसी का स्वरूप बताने की दृष्टि से इस गाथा में इंद्रियों की बाह्य निर्वृत्ति का स्वरूप बताया है। अपने-अपने स्थान पर नोकर्म रूप पुद्गल वर्गणाओं का जो आकार बनता है उसी को बाह्य निर्वृत्ति कहते हैं। चक्षु, श्रोत्र, घ्राण और जिह्वा इन चार इंद्रियों का आकार नियत है, जैसा कि इस गाथा में बताया गया है। परन्तु स्पर्शन इंद्रिय का आकार नियत नहीं है क्योंकि वह सम्पूर्ण शरीर के साथ व्याप्त है और शरीरों के आकार विभिन्न प्रकार के हुआ करते हैं।

तत्तत् इंद्रिय के स्थान पर अपने-अपने आवरण कर्म के क्षयोपशमरूप कार्मण पुद्गल स्कन्ध से युक्त आत्मा के प्रदेशों का जो आकार बनता है उसको आभ्यंतर निर्वृत्ति कहते हैं। स्पर्शनेन्द्रिय की यह आभ्यंतर निर्वृत्ति भी भिन्न-भिन्न प्रकार की हुआ करती है।

गाथा में जो तु शब्द है वह उपलक्षण होने से सूचित करता है कि आभ्यंतर निर्वृत्ति तथा बाह्याभ्यंतर उपकरणों का भी स्वरूप यहाँ आगमानुसार समझ लेना चाहिए।

इस प्रकार इन्द्रियज्ञान वाले संसारी जीवों का वर्णन करके अतीन्द्रिय ज्ञान वाले जीवों का निरूपण करते हैं–

ण वि इंदियकरणजुदा, अवग्गहादीहि गाहया अत्थे।
णेव य इंदियसोक्खा, अणिंदियाणंतणाणसुहा।।57।।

नापि इन्द्रियकरणयुता अवग्रहादिभिर्ग्राहका अर्थे।
नैव च इन्द्रियसौख्या अनिन्द्रियानन्तज्ञानसुखाः।।57।।

अर्थ—जीवन्मुक्त तथा परम मुक्त जीव इन्द्रियों की क्रिया से युक्त नहीं हैं तथा वे अवग्रहादिक क्षायोपशमिक ज्ञान के द्वारा पदार्थ का ग्रहण नहीं करते। इसी तरह वे इन्द्रियजन्य सुख से भी युक्त नहीं हैं क्योंकि उन दोनों ही प्रकार के जीवों का अनन्त ज्ञान और अनन्त सुख अनिन्द्रिय है।

भावार्थ—उन जीवों का अनन्त ज्ञान और अनन्त सुख अपनी प्रवृत्ति

में इन्द्रिय व्यापार की अपेक्षा नहीं रखता, क्योंकि वह निरावरण है। जो सावरण हुआ करता है उसको अपनी प्रवृत्ति में दूसरे की सहायता की अपेक्षा हुआ करती है। जो अपना कार्य करने में स्वयं ही समर्थ है उसको दूसरे की अपेक्षा नहीं हुआ करती और न आवश्यकता ही है। इसीलिए ये दोनों ही प्रकार के जीव – जीवन्मुक्त – सयोगकेवली और अयोगकेवली अर्थात् सिद्ध परमात्मा इन्द्रिय व्यापार से रहित हैं। वे त्रिकालवर्ती तीन लोक के समस्त पदार्थों को अनन्त ज्ञान के द्वारा युगपत् प्रत्यक्ष ग्रहण करते हैं। अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान आदि क्षायोपशमिक ज्ञानों के द्वारा वे क्रम से योग्य विषयों का ही ग्रहण नहीं किया करते। इसी प्रकार उनका सुख भी इन्द्रियजन्य नहीं है क्योंकि उसके कारणभूत सभी प्रतिपक्षी कर्मों का सर्वथा अभाव हो चुका है।

जीवप्रबोधिनी तथा मंदप्रबोधिनी दोनों ही टीकाओं में इस गाथा का अर्थ सिद्ध पर्याय में घटित किया है और वह निःसंदेह ठीक है क्योंकि सिद्धों में किसी भी अपेक्षा से इन्द्रियवत्ता नहीं पाई जाती, जबकि जीवन्मुक्त सकल परमात्माओं में द्रव्य की अपेक्षा से इन्द्रियों का अस्तित्व पाया जाता है। फिर भी यहाँ तथा अन्यत्र भी परमागम में जो भावरूप अर्थ को मुख्य मानकर इन्द्रियों का वर्णन किया गया है उसको दृष्टि में रखकर इस गाथा के चारों ही वाक्यों का अर्थ तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानवर्ती सयोगकेवली तथा अयोगकेवली में भी घटित होता है क्योंकि द्रव्येन्द्रियों के रहते हुए भी वे उनके करण रूप नहीं हैं क्योंकि उनका ज्ञान और सुख क्षायिक होने से अतीन्द्रिय है। क्षायोपशमिक ज्ञान एवं सुख को ही करण-अवलम्बनरूप सहकारी कारण इन्द्रियों आदि की अपेक्षा हुआ करती है। अतएव इस गाथा का अर्थ जीवन्मुक्त अरिहन्तों में भी घटित नहीं होता है, क्योंकि उनका ज्ञान क्षायिक है अतएव उनके ज्ञान में इन्द्रियाँ करणरूप नहीं हुआ करतीं। जिस प्रकार अवग्रहादि के द्वारा पदार्थों का ज्ञान क्रम से हुआ करता है उस प्रकार उनका ज्ञान क्रमवर्ती नहीं है। इसी प्रकार यद्यपि पुण्योदय से उनको सर्वोत्कृष्ट भोगोपभोग की सामग्री प्राप्त है फिर भी वे उनका भोगोपभोग नहीं करते। उनका अनन्त ज्ञान और अनंत सुख सब अनिन्द्रिय ही है। इस प्रकार प्रकरणगत भावरूप इन्द्रियों की अपेक्षा से सभी प्रत्यक्ष केवली अनिन्द्रिय ही

हैं फिर भी द्रव्येन्द्रियों के अस्तित्व की अपेक्षा से अरिहंतों को पंचेन्द्रियों में परिगणित किया है। जैसा कि सत्प्ररूपणा के सूत्र नं. 37 से विदित होता है परन्तु उस सूत्र का आशय क्या है यह बात आगम के निम्नलिखित वाक्यों से भले प्रकार जानी जा सकती है –

''इन्द्रियत्वादिति चेन्नार्षार्थानवबोधात्'', स्यादेतत्, एवमागमः प्रवृत्तः ''पंचेन्द्रिया असंज्ञिपंचेन्द्रियादारभ्य या अयोगकेवलिनः'' इति। अत इन्द्रियत्वात्तत्कार्येणापि ज्ञानेन भवितव्यम् इति। तन्न, किं कारणम् ? आर्षार्थानवबोधात्। आर्षे हि सयोग्ययोगिकेवलिनोः पंचेन्द्रियत्वं द्रव्येन्द्रियं प्रत्युक्तम् न भावेन्द्रियं प्रति। यदि हि भावेन्द्रियं प्रत्यभविष्यत् अपि तु तर्हि असंक्षीणसकलावरणत्वात् सर्वज्ञतैवास्य न्यवर्तिष्यत्। राजवार्तिक 1-30-9।

तथा- **पक्खीणजादिकम्मो, अणंतरववीरिओ अधिकतेजो।**
जादो अणिंदिओ सो, णाणं सोक्खं च परिणमदि।।19।।
सीक्खं वा पुण दुक्खं केवलणाणिस्स णत्थि देहगदं।
जम्हा अणिंदियत्तं जादं तम्हा दु तं णेयं।।21।। (प्रवचनसार)

एकेन्द्रिय आदि जीवों की संख्या

थावरसंखपिपीलिय, भमरमणुस्सादिगा सभेदा जे।
जुगवारमसंखेज्जा, णंताणंता णिगोदभवा।।58।।

स्थावरशंखपिपीलिका भ्रमरमनुष्यादिकाः सभेदा ये।
युगवारमसंख्येया अनंतानंता निगोदभवाः।।58।।

अर्थ—स्थावर एकेन्द्रिय जीव, शंख आदिक द्वीन्द्रिय, चींटी आदि त्रीन्द्रिय, भ्रमर आदि चतुरिन्द्रिय, मनुष्यादिक पंचेन्द्रिय जीव अपने-अपने अंतर्भेदों से युक्त असंख्यातासंख्यात हैं और निगोदिया जीव अनंतानंत हैं।

भावार्थ—त्रस, प्रत्येक वनस्पति, पृथिवी, जल, अग्नि, वायु इनको छोड़कर बाकी संसारी जीवों का (साधारण जीवों का) प्रमाण अनंतानंत है और साधारण को छोड़कर बाकी एकेन्द्रिय स्थावर तथा द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय इनमें प्रत्येक का प्रमाण असंख्यात लोकमात्र असंख्यातासंख्यात है।

इंद्रिय मार्गणा सार

जो इंद्र के समान हों उसे इंद्रिय कहते हैं। जिस प्रकार नव ग्रैवेयक आदि में रहने वाले इंद्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश आदि भेदों तथा स्वामी, भृत्य आदि विशेष भेदों से रहित होने के कारण किसी के वशवर्ती नहीं हैं, स्वतंत्र हैं उसी प्रकार स्पर्शन आदि इंद्रियाँ भी अपने-अपने स्पर्श आदि विषयों में दूसरी रसना आदि की अपेक्षा रखकर स्वतंत्र हैं। यही कारण है कि इनको इंद्रों-अहिमन्द्रों के समान होने से इंद्रिय कहते हैं।

इंद्रियों के दो भेद—भावेन्द्रिय और द्रव्येन्द्रिय।

भावेन्द्रियों के दो भेद—लब्धि और उपयोग। मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से प्रकट हुई अर्थ ग्रहण की शक्ति रूप विशुद्धि को 'लब्धि' कहते हैं और उसके होने पर अर्थ—विषय के ग्रहण करने रूप जो व्यापार होता है। उसे 'उपयोग' कहते हैं।

द्रव्येन्द्रिय के दो भेद—निर्वृत्ति और उपकरण। आत्म प्रदेशों तथा आत्म सम्बद्ध शरीर प्रदेशों की रचना को निर्वृत्ति कहते हैं। निर्वृत्ति आदि की रक्षा में सहायकों को उपकरण कहते हैं।

जिन जीवों के बाह्य चिन्ह और उनके द्वारा होने वाला स्पर्श, रस, गंध, रूप और शब्द इन पाँच विषयों का ज्ञान हो उनको क्रम से एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय जीव कहते हैं। इनके भी अवान्तर भेद अनेक हैं।

एकेन्द्रिय जीव के केवल एक स्पर्शनेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय के स्पर्शन, रसना, त्रीन्द्रिय के स्पर्शन, रसना, घ्राण, चतुरिन्द्रिय के स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और पंचेन्द्रिय के स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र।

इंद्रियों का विषय—एकेन्द्रिय के स्पर्शनेन्द्रिय का उत्कृष्ट विषय क्षेत्र चार सौ धनुष है और द्वीन्द्रिय आदि के वह दूना-दूना है। सभी इंद्रियों का उत्कृष्ट विषय क्षेत्र आगे चार्ट में दिखलाया गया है।

चक्षु इंद्रिय के उत्कृष्ट विषय में विशेषता—सूर्य का भ्रमण क्षेत्र $510\frac{48}{11}$ योजन चौड़ा है। यह पृथ्वी तल से 800 योजन ऊपर जाकर है। वह इस जम्बूद्वीप के भीतर 180 योजन एवं लवण समुद्र में 330-48/61 योजन है अर्थात् समस्त

गमन क्षेत्र 510-48/61 योजन या 20, 43, 147-13/61 मील है। इतने प्रमाण गमन क्षेत्र में सूर्य की 184 गलियाँ हैं। इन गलियों में सूर्य क्रमशः एक-एक गली में संचार करते हैं। इस प्रकार जम्बूद्वीप में दो सूर्य तथा दो चंद्रमा हैं।

चक्रवर्ती के चक्षुरिन्द्रिय का उत्कृष्ट विषय—जब सूर्य पहली गली में आता है तब अयोध्या नगरी के भीतर अपने भवन के ऊपर स्थित चक्रवर्ती सूर्य विमान में स्थित जिनबिम्ब का दर्शन करते हैं। इस समय सूर्य अभ्यंतर गली की 3,15,089 योजन परिधि को 60 मुहूर्त में पूरा करता है। इस गली में सूर्य निषध पर्वत पर उदित होता है, वहाँ से उसे अयोध्या नगरी के ऊपर आने में 9 मुहूर्त लगते हैं। जब जब वह 3,15,089 योजन प्रमाण उस वीथी को 60 मुहूर्त में पूर्ण करता है तब वह 9 मुहूर्त में कितने क्षेत्र को पूरा करेगा इस प्रकार त्रैराशिक करने से $\frac{3,15,089}{60} 9 = 47,263\frac{7}{20}$ योजन अर्थात् 1,89,05,34,000 मील होता है।

तात्पर्य यह हुआ कि चक्रवर्ती की दृष्टि का विषय 47,263-7/20 योजन प्रमाण है यह चक्षुरिन्द्रिय का उत्कृष्ट विषय क्षेत्र है।

इंद्रियाँ

इंद्रियों का आकार—मसूर के समान चक्षु का, जव की नली के समान श्रोत्र का, तिल के फूल के समान घ्राण का तथा खुरपा के समान जिह्वा का आकार है। स्पर्शनेन्द्रिय के अनेक आकार हैं।

एकेन्द्रियादि जीवों का प्रमाण–स्थावर एकेन्द्रिय जीव असंख्यातासंख्यात हैं, शंख आदि द्वीन्द्रिय जीव असंख्यातासंख्यात हैं, चिंउटी आदि त्रींद्रिय जीव असंख्यातासंख्यात हैं, भ्रमर आदि चतुरिंद्रिय जीव असंख्यातासंख्यात हैं, मनुष्य आदि पंचेन्द्रिय जीव असंख्यातासंख्यात हैं और निगोदिया जीव अनंतानंत हैं अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, प्रत्येक वनस्पति ये पाँच स्थावर और त्रस जीव असंख्यातासंख्यात हैं और जो वनस्पति के भेदों का दूसरा भेद साधारण है, वे साधारण वनस्पति जीव अनंतानंत प्रमाण हैं।

इंद्रियातीत—अर्हंत और सिद्ध जीव इंद्रियों के व्यापार से युक्त नहीं हैं, अवग्रह, ईहा आदि क्षयोपशम ज्ञान से रहित, इंद्रिय सुखों से रहित अतीन्द्रिय ज्ञान और अनंत सुख से युक्त हैं। इंद्रियों के बिना भी आत्मोत्थ निराकुल सुख का अनुभव करने से वे पूर्णतया सुखी हैं।

चार्ट–एकेन्द्रिय आदि जीवों के पाई जाने वाली इंद्रियों के उत्कृष्ट विषय क्षेत्रादि का दर्शक यंत्र—

इंद्रिय	एकेन्द्रिय धनुष वि.क्षे.	द्वीन्द्रिय धनुष वि.क्षे.	त्रीन्द्रिय धनुष वि.क्षे.	चतुरिन्द्रिय धनुष योजन	असं. पं. धनुष	वि.क्षे. योजन	सं.पंचे. योजन वि.क्षेत्र.	विषय	योग्यता	आकृति
स्पर्शन	400	800	1600	3200 0	6400	0	9	8 प्रकार का स्पर्श	अबद्ध	अनेक
रसना	0	64	128	256 0	512	0	9	5 विध रस	स्पृष्ट	अनियत
घ्राण	0	0	100	200 0	400	0	9	द्विविध गंध	स्पृष्ट	खुरपा
चक्षु	0	0	0	0 2954	0	5908	46263	पंच प्रकार रूप	स्पृष्ट	तिलपुष्प
							1		अस्पृष्ट	मसूर
श्रोत्र	0	0	0	0 0	800	0	7–20	12 शब्द तथा 7 स्वर	स्पृष्ट	यवनली

(अष्टम अधिकार)

8. कायमार्गणा

काय का स्वरूप

जाईअविणाभावी, तसथावरउदयजो हवे काओ।
सो जिणमदम्हि भणिओ, पुढवीकायादिछब्भेयो।।59।।

जात्यविनाभावित्रसस्थावरोदयजो भवेत् कायः।
स जिनमते भणितः पृथ्वीकायादिषड्भेदः।।59।।

अर्थ—जाति नाम कर्म के अविनाभावी त्रस और स्थावर नामकर्म के उदय से होने वाली आत्मा की पर्याय को जिनमत में काय कहते हैं। इसके छह भेद हैं—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस।

भावार्थ—यद्यपि काय शब्द का अर्थ शरीर होता है और निरुक्ति के अनुसार यह अर्थ भी संगत है। फिर भी यहाँ यह निरुक्तार्थ गौण एवं उपचरित है, मुख्य नहीं है। इसीलिये आचार्य ने काय का लक्षण बताते हुए यहाँ पर इस बात को स्पष्ट कर दिया है कि मार्गणा के प्रकरण में काय का अर्थ जाति नाम कर्म के उदय से अविनाभावी त्रस एवं स्थावर नाम कर्म के उदय होने से होने वाली जीव की पर्याय विशेष है। शरीर नाम कर्म के उदय से होने वाला कार्य यहाँ पर काय शब्द से अभीष्ट नहीं है। इस तरह के शरीर में स्थित जीव की पर्याय ही वास्तव में काय शब्द से यहाँ अभिप्रेत है। यदि निरुक्ति अर्थ को शरीर रूप मुख्य माना जायेगा तो आगम के अनेक विषय विसंगत हो जाएंगे। वायुकायिक आदि को स्थावर नहीं कहा जा सकेगा, क्योंकि वे स्थानशील नहीं है—सदा ही चलते रहते हैं तथा सब स्थावरों को भी त्रस कहा जा सकेगा, क्योंकि वे भी उद्वेग को प्राप्त हैं, इत्यादि।

सामान्यतया जाति नामकर्म के एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक पाँच भेद होते हैं। फिर भी इनके त्रस और स्थावर नाम कर्म के उदय के संबंध से दो भेद किये गये हैं—एकेन्द्रिय और द्वीन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक। जिन जीवों के एकेन्द्रिय जाति नामकर्म का उदय पाया जाता है उनके

स्थावर नामकर्म का भी उदय हुआ करता है और जिनके द्वीन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक की किसी भी जाति का उदय होता है उनके त्रस नामकर्म का उदय हुआ करता है क्योंकि त्रस स्थावर कर्मों का उदय जाति का अविनाभावी—उससे अविरुद्ध बताया गया है। जिस तरह गति से अविरुद्ध जाति कर्म का उदय हुआ करता है। उसी प्रकार जाति से अविरुद्ध—अविनाभावी स्थावर और त्रस नामकर्मों का उदय हुआ करता है। शरीर कर्म के उदय से आगत नोकर्मवर्गणाओं की रचना इन्हीं जात्यविनाभावी त्रस या स्थावर नामकर्म के उदय के अनुसार हुआ करती है। ऐसा नहीं है कि शरीर के अनुसार इन जीव विपाकी जात्यादि कर्मों का उदय होता हो। जैसा कि गाथा के पूर्वार्ध से विदित होता है तथा देखा जाता है कि विग्रह गति में शरीर के उदय और कार्य के पूर्व त्रस-स्थावर कर्मोदय के अनुसार जीव की वह पर्याय और संज्ञाभिधान माना गया है। अतएव यहाँ पर काय से शरीर का ग्रहण करके कोई भ्रम में न पड़े इसीलिए जीव विपाकी कर्मों के उदय से जन्य जीव–पर्याय रूप काय का लक्षण ग्रंथकारों ने स्पष्टतया बता दिया है।

पृथ्वी आदि चार स्थावर का स्वरूप

पुढवी आऊ तेऊ, वाऊ कम्मोदयेण तत्थेव।
णियवण्णचउक्कजुदो, ताणं देहो हवे णियमा।।60।।

पृथिव्यप्तेजोवायुकर्मोदयेन तत्रैव।
निजवर्णचतुष्कयुतस्तेषां देहो भवेन्नियमात्।।60।।

अर्थ—पृथ्वी, अप्—जल, तेज—अग्नि, वायु, इनका शरीर नियम से अपने-अपने पृथ्वी आदि नामकर्म के उदय से अपने-अपने योग्य रूप, रस, गंध, स्पर्श से युक्त पृथ्वी आदिक में बनता है।

भावार्थ—पृथ्वी आदि नामकर्म के उदय से पृथ्वीकायिक आदि जीवों के अपने-अपने योग्य रूप, रस, गंध, स्पर्श से युक्त पृथ्वी आदि पुद्गलस्कंध शरीर रूप परिणत हो जाते हैं अर्थात् शरीर योग्य प्राप्त नोकर्मवर्गणाओं का परिणाम और रचना जात्यविनाभावी स्थावर या त्रस नामकर्म एवं उनके अवान्तर भेदरूप जीव विपाकी कर्म के उदय के अनुरूप हुआ करती है।

शरीर के भेद और उनके लक्षण

बादरसुहुमुदयेण य, बादरसुहुमा हवन्ति तद्देहा।
घादसरीरं थूलं, अघाददेहं हवे सुहुमं।।61।।

बादरसूक्ष्मोदयेन च बादरसूक्ष्मा भवन्ति तद्देहाः।
घातशरीरं स्थूलमघातदेहं भवेत् सूक्ष्मम्।।61।।

अर्थ—बादरनामकर्म के उदय से बादर और सूक्ष्म नामकर्म के उदय से सूक्ष्म शरीर हुआ करता है। जो शरीर दूसरे को रोकने वाला हो अथवा जो स्वयं दूसरे से रुके उसको बादर—स्थूल कहते हैं और जो दूसरे को न तो रोके और न स्वयं दूसरे से रुके उसको सूक्ष्म शरीर कहते हैं।

भावार्थ—नामकर्म के भेदों में जाति, स्थावर, त्रस ये तीन भेद जिस तरह जीव विपाकी कर्मों के भेद हैं, जो कि काय की उत्पत्ति या व्यपदेश में मुख्य अन्तरंग कारण हैं। उसी प्रकार शरीर के दो प्रकार बादर और सूक्ष्म होने में भी नामकर्म के दो जीवविपाकी ही कर्म–बादर और सूक्ष्म कारण हैं। जो जीव बादर नामकर्म के उदय से युक्त हैं उनके शरीर नामकर्म के उदय से संचित नोकर्म वर्गणाओं की बादर शरीर रूप रचना हुआ करती है और जो जीव सूक्ष्म नामकर्म के उदय से युक्त हैं उनके शरीर नाम कर्म के उदय से प्राप्त शरीर योग्य नोकर्मवर्गणाओं से सूक्ष्म शरीर का परिणमन हुआ करता है। अतएव आशय इस प्रकार समझना चाहिए कि जिनका शरीर बादर है वे बादर जीव हैं और जिनका शरीर सूक्ष्म है वे जीव सूक्ष्म हैं क्योंकि कार्य कारण का ज्ञापक हुआ करता है।

वनस्पतिकाय का स्वरूप और उसके भेद

उदये दु वणप्फदिकम्मस्स य जीवा वणप्फदी होंति।
पत्तेयं सामण्णं, पदिट्ठिदिदरेत्ति पत्तेयं।।62।।

उदये तु वनस्पतिकर्मणश्च जीवा वनस्पतयो भवन्ति।
प्रत्येकं सामान्यं प्रतिष्ठितेतरे इति प्रत्येकम्।।62।।

अर्थ—स्थावर नामकर्म का अवान्तर विशेष भेद जो वनस्पति नामकर्म है उसके उदय से जीव वनस्पति होते हैं। उनके दो भेद हैं—एक प्रत्येक

दूसरा साधारण। प्रत्येक के भी दो भेद हैं—प्रतिष्ठित और अप्रतिष्ठित।

भावार्थ—जो एक ही जीव प्रत्येक वनस्पति नामकर्म के उदय से युक्त होकर पूरे एक शरीर का मालिक हो उस जीव को प्रत्येक वनस्पति कहते हैं। जिस एक ही शरीर में अनेक जीव समानरूप से रहें उस शरीर को साधारण शरीर कहते हैं और इस तरह के साधारण शरीर के धारण करने वाले उन जीवों को साधारण वनस्पति जीव कहते हैं क्योंकि इनके साधारण-वनस्पति नामकर्म का उदय पाया जाता है। प्रत्येक वनस्पति के भी दो भेद हैं—एक प्रतिष्ठित दूसरा अप्रतिष्ठित। प्रतिष्ठित प्रत्येक उसको कहते हैं कि जिस एक ही जीव के उस विवक्षित शरीर में मुख्य रूप से व्यापक होकर रहने पर भी उसके आश्रय से दूसरे अनेक निगोदिया जीव भी रहें किन्तु जहाँ पर यह बात नहीं है, एक जीव के मुख्यतया रहते हुए भी उसके आश्रय से दूसरे निगोदिया जीव नहीं रहते उनको अप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते हैं।

वनस्पति जीवों के अवान्तर भेद

मूलग्गपोरबीजा, कंदा तह खंदबीज बीजरुहा।
सम्मुच्छिमा य भणिया, पत्तेयाणंतकाया य।।63।।

मूलाग्रपर्वबीजा, कन्दास्तथा स्कन्धबीजबीजरुहाः।
सम्मूर्छिमाश्च भणिताः प्रत्येकानंतकायाश्च।।63।।

अर्थ—जिन वनस्पतियों का बीज, मूल, अग्र, पर्व, कंद अथवा स्कंध है अथवा जो बीज से उत्पन्न होती हैं यद्वा जो सम्मूर्च्छन हैं वे सभी वनस्पतियाँ सप्रतिष्ठित तथा अप्रतिष्ठित दोनों प्रकार की होती हैं।

भावार्थ—वनस्पति अनेक प्रकार की होती हैं। कोई तो मूल से उत्पन्न होती हैं, जैसे—अदरख, हल्दी आदि। कोई अग्र से उत्पन्न होती हैं, जैसे—गुलाब, उदीची आदि। कोई पर्व-पंगोली से उत्पन्न होती हैं, जैसे—ईख, बेंत आदि। कोई कंद से उत्पन्न होती हैं, जैसे—पिंडालू, सूरण आदि। कोई स्कंध से उत्पन्न होती हैं, जैसे—सल्लकी, कटकी, पलाश, ढाक आदि। कोई अपने-अपने बीज से उत्पन्न होती हैं, जैसे—गेहूँ, चना, धान आदि। कोई सम्मूर्च्छन-मिट्टी जल आदि के संबंध से ही उत्पन्न हो जाती हैं,

जैसे—घास आदि। ये सब ही वनस्पति सप्रतिष्ठित प्रत्येक और अप्रतिष्ठित प्रत्येक इस तरह दोनों प्रकार की हुआ करती हैं।

यह बात भी ध्यान में रहनी चाहिए कि यहाँ पर बताए गए वनस्पति के भेदों में एक भेद सम्मूर्च्छन भी बताया है वह वनस्पति के अनेक कारणजन्य प्रकारों में से एक प्रकार है। जिसका आशय इतना ही है कि उसकी उत्पत्ति का कोई बीज निश्चित नहीं है। जैसा कि अन्य वनस्पतियों के मूल आदि निश्चित हैं। जन्म के तीन (सम्मूर्च्छन, गर्भ, उपपाद) प्रकारों में से एक सम्मूर्च्छन भेद है। वह तो एकेन्द्रिय जीवों से लेकर संसारी जीवों में चतुरिन्द्रिय तक सभी जीवों का तथा किन्हीं-किन्हीं पंचेन्द्रिय जीवों का भी हुआ करता है। दोनों ही सम्मूर्च्छनों में सामान्य विशेष का अंतर है। सम्मूर्च्छन जन्म सामान्य है और यह भेद विशेष है।

सप्रतिष्ठित प्रत्येक और अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति की पहचान

गूढसिरसंधिपव्वं, समभंगमहीरुहं च छिण्णरुहं।
साहारणं सरीरं, तव्विवरीयं च पत्तेयं।।64।।

गूढशिरासन्धिपर्वं समभंगमहीरुकं च छिन्नरुहम्।
साधारणं शरीरं तद्विपरीतं च प्रत्येकम्।।64।।

अर्थ—जिनकी शिरा—बहिःस्नायु, सन्धि—रेखाबंध और पर्व—गाँठ अप्रकट हों और जिसका भंग करने पर समान भंग हो और दोनों भंगों में परस्पर हीरुक—अन्तर्गत सूत्र—तन्तु न लगा रहे तथा छेदन करने पर भी जिसकी पुनः वृद्धि हो जाए उनको सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति कहते हैं। और जो विपरीत हैं—इन चिन्हों से रहित हैं वे सब अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति कही गयी हैं।

भावार्थ—यद्यपि वनस्पति के जो दो भेद गिनाये हैं उनमें प्रत्येक से साधारण भेद भिन्न ही है। परन्तु यहाँ पर साधारण जीवों से आश्रित होने के कारण उपचार से ताल, नालिकेर, तिंतिणीक आदि प्रत्येक वनस्पति के भेदों को भी साधारण शब्द से कह दिया है।

साधारण जीवों का स्वरूप

साहारणमाहारो, साहारणमाणपाणगहणं च।
साहारणजीवाणं, साहारणलक्खणं भणियं।।65।।

साधारणमाहारः साधारणमानपानग्रहणं च।
साधारणजीवानां साधारणलक्षणं भणितम्।।65।।

अर्थ—इन साधारण जीवों का साधारण अर्थात् समान ही तो आहार होता है और साधारण—समान अर्थात् एक साथ ही श्वासोच्छ्वास का ग्रहण होता है। इस तरह से साधारण जीवों का लक्षण परमागम में साधारण ही बताया है।

भावार्थ—साथ ही उत्पन्न होने वाले जिन अनंतानंत साधारण जीवों की आहारादि पर्याप्ति और उनके कार्य सदृश तथा समान काल में होते हों उनको साधारण जीव कहते हैं।

जत्थेक्क मरइ जीवो, तत्थ दु मरणं हवे अणंताणं।
वक्कमइ जत्थ एक्को, वक्कमणं तत्थ णंताणं।।66।।

यत्रैको म्रियते जीवस्तत्र तु मरणं भवेदनन्तानाम्।
प्रक्रामति यत्र एकः प्रक्रमणं तत्रानन्तानाम्।।66।।

अर्थ—साधारण जीवों में जहाँ पर एक जीव मरण करता है वहाँ पर अनंत जीवों का मरण होता है और जहाँ पर एक जीव उत्पन्न होता है वहाँ अनंत जीवों का उत्पाद होता है।

भावार्थ—साधारण जीवों में उत्पत्ति और मरण की अपेक्षा भी सादृश्य है। प्रथम समय में उत्पन्न होने वाले साधारण जीवों की तरह द्वितीयादि समयों में भी उत्पन्न होने वाले साधारण जीवों का जन्म-मरण साथ ही होता है। यहाँ इतना विशेष समझना कि एक बादर निगोद शरीर में या सूक्ष्म निगोद शरीर में साथ ही उत्पन्न होने वाले अनंतानंत साधारण जीव या तो पर्याप्तक ही होते हैं या अपर्याप्तक ही होते हैं किन्तु मिश्ररूप नहीं होते क्योंकि उनके समान कर्मोदय का नियम है।

एक निगोद शरीर में जीव कितने हैं

एगणिगोदसरीरे, जीवा दव्वप्पमाणदो दिट्ठा।
सिद्धेहिं अणंतगुणा, सव्वेण विदीदकालेण।।67।।

एकनिगोदशरीरे जीवा द्रव्यप्रमाणतो दृष्टाः।
सिद्धैरनन्तगुणाः सर्वेण व्यतीतकालेन।।67।।

अर्थ—समस्त सिद्ध राशि का और सम्पूर्ण अतीत काल के समयों का जितना प्रमाण है द्रव्य की अपेक्षा से उनसे अनंतगुणे जीव एक निगोद शरीर में होते हैं।

भावार्थ–यहाँ पर काल के आश्रय से एक शरीर में पाये जाने वाले जीवों की संख्या बताई गई है। क्षेत्र तथा भाव की अपेक्षा से उनकी संख्या आगम के अनुसार जानी जा सकती है।

नित्यनिगोद का स्वरूप

अत्थि अणंता जीवा, जेहिं ण पत्तो तसाण परिणामो।
भावकलंकसुपउरा, णिगोदवासं ण मुंचंति।।68।।

सन्ति अनंता जीवा यैर्न प्राप्तः त्रसानां परिणामः।
भावकलंकसुप्रचुरा निगोदवासं न मुंचन्ति।।68।।

अर्थ—ऐसे अनंतानंत जीव हैं कि जिन्होंने त्रसों की पर्याय अभी तक कभी भी नहीं पाई है और जो निगोद अवस्था में होने वाले दुर्लेश्यारूप परिणामों से अत्यंत अभिभूत रहने के कारण निगोदस्थान को कभी नहीं छोड़ते।

भावार्थ—निगोद के दो भेद हैं—एक नित्य निगोद दूसरा चतुर्गति निगोद। जिसने कभी त्रस पर्याय को प्राप्त कर लिया हो उसको चतुर्गति निगोद कहते हैं और जिसने अभी तक कभी भी त्रस पर्याय को न पाया हो अथवा जो भविष्य में भी कभी त्रस पर्याय को नहीं पावेगा उसको नित्यनिगोद कहते हैं, क्योंकि नित्य शब्द के दोनों ही अर्थ होते हैं एक तो अनादि दूसरा अनादि अनंत। इन दोनों ही प्रकार के जीवों की संख्या अनंतानंत है।

गाथा में आया हुआ 'प्रचुर' शब्द प्रायः अथवा आभीक्ष्ण्य अर्थ को

सूचित करता है। अतएव छह महीना आठ समय में छह सौ आठ जीवों के उसमें से निकल कर मोक्ष को चले जाने पर भी कोई बाधा नहीं आती।

निगोदिया से रहित कौन हैं ?

पुढवीआदिचउण्हं, केवलिआहारदेवणिरयंगा।
अपदिट्ठिदा णिगोदेहिं पदिट्ठिदंगा हवे सेसा।।69।।

पृथिव्यादिचतुर्णा केवल्याहारदेवनिरयांगानि।
अप्रतिष्ठितानि निगोदैः प्रतिष्ठितांगा भवन्ति शेषाः।।69।।

अर्थ—पृथ्वी, जल, अग्नि और वायुकायिक जीवों का शरीर तथा केवलियों का शरीर, आहारकशरीर और देव-नारकियों का शरीर बादर निगोदिया जीवों से अप्रतिष्ठित है। शेष वनस्पतिकाय के जीवों का शरीर तथा द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय तिर्यंच और मनुष्यों का शरीर निगोदिया जीवों से प्रतिष्ठित है।

स्थावर और त्रस जीवों का आकार

मसुरंबुबिंदुसूई, कलावधयसण्णिहो हवे देहो।
पुढवीआदिचउण्हं, तरुतसकाया अणेयविहा।।70।।

मसूराम्बुबिंदुसूचीकलापध्वजसन्निभो भवेद्देहः।
प्रथिव्यादिचतुर्णा तरुत्रसकाया अनेकविधाः।।70।।

अर्थ—मसूर (अन्न विशेष), जल की बिन्दु, सुइयों का समूह तथा ध्वजा इनके सदृश क्रम से पृथ्वी, अप्, तेज, वायुकायिक जीवों का शरीर होता है और वनस्पति तथा त्रसों का शरीर अनेक प्रकार का होता है।

भावार्थ—जिस तरह का मसूरादिक का आकार है उस ही तरह का पृथ्वीकायिकादिक का शरीर होता है किन्तु वनस्पति और त्रसों का शरीर आयित संस्थान होने से एक प्रकार का नहीं किन्तु अनेक प्रकार की भिन्न-भिन्न आकृतियों वाला ही हुआ करता है। ध्यान रहे, पृथ्वीकायिकादि के जो दृष्टिगोचर शरीर हैं वे अनेकों जीवों के शरीर के समूहरूप हैं, अतएव उनका नियत संस्थान घनांगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण होने से दिखाई नहीं पड़ता।

कायमार्गणा से रहित सिद्धों का स्वरूप बताते हैं–

जह कंचणमग्गिगयं, मुंचइ किट्टेण कालियाए य।
तह कायबंधमुक्का, अकाइया झाणजोगेण।।71।।

यथा कंचनमग्निगतं मुच्यते किट्टेन कालिकया च।
तथा कायबन्धमुक्ता अकायिका ध्यानयोगेन।।71।।

अर्थ—जिस प्रकार मलिन भी सुवर्ण अग्नि के द्वारा सुसंस्कृत होकर बाह्य और अभ्यन्तर दोनों ही प्रकार के मल से रहित हो जाता है उस ही प्रकार ध्यान के द्वारा यह जीव भी शरीर और कर्मबंध दोनों से रहित होकर सिद्ध हो जाता है।

भावार्थ–जिस प्रकार सोलह ताव के द्वारा तपाये हुए सुवर्ण में बाह्य किट्टिका और अभ्यंतर कालिका इन दोनों ही प्रकार के मल का बिल्कुल अभाव हो जाने पर फिर किसी दूसरे मल का संबंध नहीं होता उस ही प्रकार महाव्रत और धर्मध्यानादि से सुसंस्कृत एवं सुतप्त आत्मा में से एक बार शुक्लध्यान रूपी अग्नि के द्वारा बाह्य मल काय और अन्तरंग मल कर्म के संबंध के सर्वथा छूट जाने पर फिर उनका बंध नहीं होता और वे सदा के लिए काय और कर्म से रहित होकर सिद्ध हो जाते हैं। इस तरह से इस गाथा में आचार्य ने कायमार्गणा के वर्णन का वास्तविक प्रयोजन बता दिया है।

काय मार्गणासार

जाति नामकर्म के अविनाभावी त्रस और स्थावर नामकर्म के उदय से आत्मा की जो पर्याय होती है उसे काय कहते हैं। उसके छह भेद हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रसकाय।

पृथ्वी आदि नामकर्म के उदय से जीव का पृथ्वी आदि शरीर में जन्म होता है।

पाँच स्थावर काय के बादर और सूक्ष्म की अपेक्षा दो-दो भेद हो जाते हैं। विशेष यह है कि वनस्पतिकाय के साधारण और प्रत्येक ये दो भेद होते हैं उसेंम साधारण के बादर, सूक्ष्म दो भेद होते हैं, प्रत्येक वनस्पति के नहीं होते।

बादर नामकर्म के उदय से होने वाला शरीर बादर है। यह शरीर दूसरे का घात करता है और दूसरे से बाधित होता है।

सूक्ष्म नामकर्म के उदय से होने वाला शरीर सूक्ष्म है। यह न स्वयं दूसरे से बाधित होता है और न दूसरे का घात करता है। इन दोनों के शरीर की अवगाहना घनांगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण है। इनमें बादर जीव आधार से रहते हैं और सूक्ष्म जीव सर्वत्र तिल में तेल की तरह व्याप्त हैं अर्थात् सारे तीन लोक में भरे हुए हैं, ये अनंतानंत प्रमाण हैं।

वनस्पतिकाय के विशेष भेद—वनस्पतिकाय के दो भेद हैं—प्रत्येक और साधारण। प्रत्येक के भी दो भेद हैं—सप्रतिष्ठित और अप्रतिष्ठित।

जिनकी शिरा, संधि और पर्व अप्रगट हों, तोड़ने पर समान भंग हों, तन्तु न लगा रहे, छेदन करने पर भी पुनः वृद्धि हो जावे वे सप्रतिष्ठित वनस्पति हैं। सप्रतिष्ठित वनस्पति के आश्रित अनंत निगोदिया जीव रहते हैं। जिनमें से निगोदिया जीव निकल गये हैं वे वनस्पति अप्रतिष्ठित कहलाती हैं। आलू, अदरक, तुच्छ फल, कोंपल आदि सप्रतिष्ठित हैं। आम, नारियल, ककड़ी आदि अप्रतिष्ठित हैं अर्थात् प्रत्येक वनस्पति का स्वामी एक जीव रहता है किन्तु उसके आश्रित जीवों से सप्रतिष्ठित जीवों का आश्रय न रहने से अप्रतिष्ठित कहलाती है।

साधारण वनस्पति—साधारण नामकर्म के उदय से जिस शरीर के स्वामी अनेक जीव होते हैं उसे साधारण वनस्पति कहते हैं। इन साधारण जीवों का साधारण ही आहार, साधारण ही श्वासोच्छ्वास होता है, इस साधारण शरीर में अनंतानंत जीव रहते हैं। इनमें जहाँ एक जीव मरता है वहाँ अनंतानंत जीवों का मरण हो जाता है और जहाँ एक जीव का जन्म होता है वहाँ अनंतानंत जीवों का जन्म होता है।एक निगोद शरीर में जीवद्रव्य की अपेक्षा सिद्धराशि से अनन्तगुणी हैं और निगोद शरीर की अवगाहना घनांगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण (सुई की नोंक के असंख्यातवें भाग) है[1]

निगोद के भेद—निगोद के नित्य निगोद और इतर निगोद से दो भेद हैं।

1. एगणिगोद शरीरे जीवा दव्वपमाणदो दिट्ठा।
सिद्धेहिं अणंतगुणा सव्वेण वितीतकालेण।।296।।गो.।

जिसने अभी तक त्रस पर्याय नहीं पाई है अथवा भविष्य में भी नहीं पाएंगे वे नित्य निगोद हैं। किन्हीं के मत से अभी तक त्रस पर्याय नहीं पाई है किन्तु आगे पा सकते हैं अतः छह महीने आठ समय में उसमें से ही छह सौ आठ जीव निकलते हैं और यहाँ से इतने ही समय में इतने ही जीव मोक्ष चले जाते हैं। जो निगोद से निकलकर चतुर्गति में घूम पुनः निगोद में गये हैं वे इतर या चतुर्गति निगोद हैं।

त्रस जीव—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीव त्रस हैं। उपपाद जन्म वाले और मारणांतिक समुद्घात वाले त्रस को छोड़कर बाकी के त्रस जीव त्रस[1] नाली के बाहर नहीं रहते हैं।

किन-किन शरीर में निगोदिया जीव रहते हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायुकायिक, केवली, आहारक, देव और नारकियों के शरीर में बादर निगोदिया जीव नहीं रहते हैं। शेष वनस्पतिकायिक, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय तिर्यंच और मनुष्यों के शरीर में निगोदिया जीव भरे रहते हैं।

षट्कायिक जीवों का आकार—पृथ्वीकायिक का शरीर मसूर के समान, जलकायिक का जल बिन्दु सदृश, अग्निकायिक जीव का सुइयों के समूह सदृश, वायुकायिक का ध्वजा सदृश होता है। वनस्पति और त्रसों का शरीर अनेक प्रकार का होता है।

जिस प्रकार कोई भारवाही पुरुष कावड़ी के द्वारा भार ढोता है उसी प्रकार यह जीव कायरूपी कावड़ी के द्वारा कर्मभार को ढो रहा है।

यथा मलिन स्वर्ण अग्नि द्वारा सुसंस्कृत होकर बाह्य और अभ्यन्तर दोनों प्रकार के मल से रहित हो जाता है तथैव ध्यान के द्वारा यह जीव भी शरीर और कर्मबंध दोनों मल से रहित होकर सिद्ध हो जाता है।

यद्यपि यह काय मल का बीज और मल की योनि स्वरूप अत्यंत निंद्य है, कृतघ्न सदृश है फिर भी इसी काय से रत्नत्रय रूपी निधि प्राप्त की जा सकती है अतः इस काय को संयम रूपी भूमि में बो करके मोक्ष फल को प्राप्त कर लेना चाहिए। स्वर्गादि अभ्युदय तो भूसे के सदृश स्वयं ही मिल जाते हैं। इसलिये संयम के बिना एक क्षण भी नहीं रहना चाहिए।

1. तीन लोक के मध्य में 1 राजू चौड़ी, मोटी और कुछ कम तेरह राजू लम्बी त्रस नाली है उसी में त्रस जीव रहते हैं। बाकी सर्वत्र स्थावर जीव हैं।

(नवम अधिकार)

9. योगमार्गणा

योग का स्वरूप

पुग्गलविवाइदेहोदयेण, मणवयणकायजुत्तस्स।
जीवस्स जा हु सत्ती, कम्मागमकारणं जोगो।।72।।

पुद्गलविपाकिदेहोदयेन मनोवचनकाययुक्तस्य।
जीवस्य या हि शक्तिः कर्मागमकारणं योगः।।72।।

अर्थ—पुद्गलविपाकी शरीर नामकर्म के उदय से मन, वचन, काय से युक्त जीव की जो कर्मों के ग्रहण करने में कारणभूत शक्ति है उसको योग कहते हैं।

भावार्थ—आत्मा की अनंत शक्तियों में से एक योग शक्ति भी है। उसके दो भेद हैं—एक भावयोग दूसरा द्रव्ययोग। पुद्गलविपाकी आंगोपांग नामकर्म और शरीर नामकर्म के उदय से, मन वचन काय पर्याप्ति जिसकी पूर्ण हो चुकी हैं और जो मनोवाक्कायवर्गणा का अवलम्बन रखता है ऐसे संसारी जीव की जो समस्त प्रदेशों में रहने वाली कर्मों के ग्रहण करने में कारणभूत शक्ति है उसको भावयोग कहते हैं और इस ही प्रकार के जीव के प्रदेशों का जो परिस्पंदन होता है उसको द्रव्ययोग कहते हैं। यहाँ पर कर्मशब्द उपलक्षण है इसलिए कर्म और नोकर्म दोनों को ग्रहण करने वाला योग होता है ऐसा समझना चाहिए। जिस प्रकार लोहे में रहने वाली दहन शक्ति अग्नि के संबंध से काम किया करती है उसी प्रकार जीव के समस्त लोक प्रमाण प्रदेशों में कर्म नोकर्म को ग्रहण करने की सामर्थ्य पायी जाती है फिर भी पुद्गलविपाकी शरीर और आंगोपांग नामकर्म के उदय से प्राप्त मनोवर्गणा भाषा वर्गणा के पुद्गल स्कंधों के संयोग से ही वह कर्म नोकर्म को ग्रहण करने का कार्य किया करता है।

योग विशेष का लक्षण कहते हैं–

मणवयणाणपउत्ती, सच्चासच्चुभयअणुभयत्थेसु।
तण्णाम होदि तदा, तेहि दु जोगा हु तज्जोगा।।73।।

मनोवचनयोः प्रवृत्तयः सत्यासत्योभयानुभयार्थेषु।
तन्नाम भवति तदा तैस्तु योगात् हि तद्योगाः।।73।।

अर्थ—सत्य, असत्य, उभय, अनुभय इन चार प्रकार के पदार्थों से जिस पदार्थ को जानने या कहने के लिए जीव के मन, वचन की प्रवृत्ति होती है उस समय में मन और वचन का वही नाम होता है और उसके संबंध से उस प्रवृत्ति का भी वही नाम होता है।

भावार्थ—सत्य पदार्थ को जानने के लिए किसी मनुष्य के मन की या कहने के लिए वचन की प्रवृत्ति हुई तो उसके मन को सत्य मन और वचन को सत्य वचन कहेंगे तथा उनके द्वारा होने वाले योग को सत्य मनोयोग और सत्य वचनयोग कहेंगे। इस ही प्रकार से मन और वचन के असत्य, उभय, अनुभय इन तीनों भेदों को भी समझना चाहिए।

सम्यग्ज्ञान के विषयभूत पदार्थ को सत्य कहते हैं, जैसे यह जल है। मिथ्याज्ञान के विषयभूत पदार्थ को मिथ्या कहते हैं, जैसे मरीचिका को यह जल है। दोनों के विषयभूत पदार्थ को उभय कहते हैं, जैसे कमण्डलु को यह घट है, क्योंकि कमण्डलु घट का काम देता है इसलिए कथंचित् सत्य है और घटाकार नहीं है इसलिए कथंचित् असत्य भी है। जो दोनों ही प्रकार के ज्ञान का विषय न हो उसको अनुभय कहते हैं, जैसे सामान्यरूप से यह प्रतिभास होना कि "यह कुछ है"। यहाँ पर सत्य-असत्य का कुछ भी निर्णय नहीं हो सकता, इसलिए अनुभय है क्योंकि स्वार्थ क्रियाकारी विशेष निर्णय न होने से सत्य नहीं कहा जा सकता और सामान्य प्रतिभास होता है अतएव उसको असत्य भी नहीं कह सकते।

दश प्रकार का सत्य

जणवदसम्मदिठवणा, णामे रूबे पडुच्चववहारे।
सम्भावणे य भावे, उवमाए दसविहं सच्चं।।74।।

जनपदसम्मतिस्थापनानाम्नि रूपे प्रतीत्यव्यवहारयोः।
संभावनायां च भावे उपमायां दशविधं सत्यम्।।74।।

अर्थ—जनपदसत्य, सम्मतिसत्य, स्थापनासत्य, नामसत्य, रूपसत्य, प्रतीत्यसत्य, व्यवहारसत्य, संभावनासत्य, भावसत्य, उपमासत्य इस प्रकार

सत्य के दश भेद हैं।

दश प्रकार के सत्य के दृष्टान्त

भत्तं देवी चंदप्पह, पडिमा तह य होदि जिणदत्तो।
सेदो दिग्घो रज्झदि, कूरोत्ति य जं हवे वयणं।।75।।

भक्तं देवी चन्द्रप्रभप्रतिमा तथा च भवति जिनदत्तः।
श्वेतो दीर्घो रध्यते कूरमिति च तद्भवेद्वचनम् ।।75।।

सक्को जम्बूदीवं, पल्लट्टदि पाववज्जवयणं च।
पल्लोवमं च कमसो, जणवदसच्चादिदिट्ठंता।।76।।

शक्रो जम्बूद्वीपं परिवर्तयति पापवर्जवचनं च।
पल्योपमं च क्रमशो जनपदसत्यादिदृष्टांताः।।76।।

अर्थ—उक्त दश प्रकार के सत्य वचन के ये दश दृष्टांत हैं। भक्त, देवी, चन्द्रप्रभप्रतिमा, जिनदत्त, श्वेत, दीर्घ, भात पकाया जाता है, शक्र जम्बूद्वीप को पलट सकता है, पाप रहित 'यह प्रासुक है'' ऐसा वचन और पल्योपम।

भावार्थ—तत्तद्देशवासी मनुष्यों के व्यवहार में जो शब्द रूढ़ हो रहा है उसको जनपद सत्य कहते हैं। जैसे—भक्त, भातु, भाटु, भेटु, वंटक, मूकुडू, कूलू, चोरू आदि भिन्न-भिन्न शब्दों से एक ही चीज को कहा जाता है। बहुत मनुष्यों की सम्मत्ति से जो सर्वसाधारण में रूढ़ हो उसको सम्मति सत्य या संवृतिसत्य कहते हैं। जैसे—पट्टरानी के सिवाय किसी साधारण स्त्री को भी देवी कहना। किसी वस्तु में उससे भिन्न वस्तु के समारोप करने वाले वचन को स्थापना सत्य कहते हैं। जैसे—चन्द्रप्रभ भगवान की प्रतिमा को चंद्रप्रभ कहना। दूसरी कोई अपेक्षा न रखकर केवल व्यवहार के लिए जो किसी का संज्ञा कर्म करना इसको नाम सत्य कहते हैं। जैसे—जिनदत्त! यद्यपि उसको जिनेन्द्र ने दिया नहीं है तथापि व्यवहार के लिए उसको जिनदत्त कहते हैं। पुद्गल के रूपादिक अनेक गुणों में से रूप की प्रधानता से जो वचन कहा जाय उसको रूप सत्य कहते हैं। जैसे—किसी मनुष्य को काला कहना। यद्यपि उसके शरीर में अन्य वर्ण भी पाये जाते हैं अथवा उसके शरीर में रसादिक के रहने पर भी रूपगुण की अपेक्षा उसको

श्वेत कहना। किसी विवक्षित पदार्थ की अपेक्षा से दूसरे पदार्थ के स्वरूप का कथन करना, इसको प्रतीत्य सत्य अथवा आपेक्षित सत्य कहते हैं। जैसे—किसी छोटे या पतले पदार्थ की अपेक्षा से दूसरे पदार्थ को बड़ा लम्बा या स्थूल कहना। नैगमादि नयों की प्रधानता से जो वचन बोला जाय उसको व्यवहार सत्य कहते हैं। जैसे—नैगम नय की प्रधानता से ''भात पकाता हूँ'' संग्रह नय की अपेक्षा ''सम्पूर्ण सत् है'' अथवा ''सम्पूर्ण असत् है'' आदि। असंभवता का परिहार करते हुए वस्तु के किसी धर्म का निरूपण करने में प्रवृत्त वचन को सम्भावना सत्य कहते हैं। जैसे—शक्र (इंद्र) जम्बूद्वीप को लौट दे अथवा उलट सकता है। आगमोक्त विधि निषेध के अनुसार अतीन्द्रिय पदार्थों में संकल्पित परिणामों को भाव कहते हैं, उसके आश्रित जो वचन हो उसको भावसत्य कहते हैं। जैसे—शुष्क, पक्व, तप्त और नमक मिर्च खटाई आदि से अच्छी तरह मिलाया हुआ द्रव्य प्रासुक होता है। यहाँ पर यद्यपि सूक्ष्म जीवों को इंद्रियों से देख नहीं सकते तथापि आगम प्रामाण्य से उनकी प्रासुकता का वर्णन किया जाता है। इसलिये इस ही पापवर्ज वचन को भावसत्य कहते हैं। दूसरे प्रसिद्ध सदृश पदार्थ को उपमा कहते हैं। इसके आश्रय से जो वचन बोला जाय उसको उपमा सत्य कहते हैं, जैसे—पल्य। यहाँ पर रोमखण्डों का आधारभूत गड्ढा, पल्य अर्थात् खास के सदृश होता है इसलिए उसको पल्य कहते हैं। इस संख्या को उपमा सत्य कहते हैं। इस प्रकार ये दश प्रकार के सत्य के दृष्टांत हैं, इसलिए और भी इस ही तरह जानना।

केवली भगवान के द्रव्य मन हैं

अंगोवंगुदयादो दव्वमणट्ठं जिणिंदचंदम्हि।
मणवग्गणखंधाणं आगमणादो दु मण जोगो।।77।।

आंगोपांगोदयात् द्रव्यमनोर्थ जिनेन्द्रचन्द्रे।
मनोवर्गणास्कन्धानामागमनात् तु मनोयोगः।।77।।

अर्थ—आंगोपांग नामकर्म के उदय से हृदय स्थान में जीवों के द्रव्यमन की विकसित—खिले हुए अष्ट दल पद्म के आकार में रचना हुआ करती है। यह रचना जिन मनोवर्गणाओं के द्वारा हुआ करती है उनका अर्थात् इस द्रव्यमन

की कारणभूत मनोवर्गणाओं का श्री जिनेन्द्र चंद्र भगवान सयोगकेवली के भी आगमन हुआ करता है इसलिए उनके उपचार से मनोयोग कहा है।

भावार्थ—यद्यपि सयोगकेवली भगवान के क्षायिक भाव ही पाए जाते हैं अतएव उनके भावमन जो कि क्षायोपशमिक भाव है, नहीं पाया जाता। फिर भी उपचार से उनके मन कहा है क्योंकि उनके आत्मप्रदेशों में कार्मण वर्गणा और नोकर्मवर्गणाओं को आकर्षित करने की शक्तिरूप भावमन पाया जाता है। साथ ही मनोवर्गणाओं के आगमनपूर्वक जो द्रव्य मन का परिणमन होता है सो वह भी उनके पाया जाता है। यही उनके मन को कहने के लिए उपचार में निमित्त है तथा गाथा में प्रयुक्त 'तु' शब्द के द्वारा सर्वजीवदया, तत्त्वार्थदेशना और शुक्लध्यानादि की प्रवृत्ति के प्रयोजन को भी सूचित कर दिया गया है।

काययोग की आदि में निरुक्तिपूर्वक औदारिक काययोग का वर्णन करते हैं–

पुरुमहदुदारुरालं, एयट्ठो संविजाण तम्हि भवं।
ओरालियं तमुच्चइ, ओरालियकायजोगो सो।।78।।

पुरुमहदुदारमुरालमेकार्थः संविजानीहि तस्मिन् भवं।
औरालिकं तदुच्यते औरालिककाययोगः सः।।78।।

अर्थ—पुरु, महत्, उदार, उराल ये सब शब्द एक ही स्थूल अर्थ के वाचक हैं। उदार में जो हो उसको कहते हैं औदारिक तथा उदार में होने वाला जो काययोग उसको कहते हैं औदारिक काययोग। यह निरुक्त्यर्थ है, ऐसा समझना चाहिए।

विशेषार्थ–काययोग के 7 भेद हैं–औदारिक काययोग, औदारिक मिश्रकाययोग, वैक्रियक काययोग, वैक्रियक मिश्रकाययोग, आहारक काययोग, आहारक मिश्रकाययोग और कार्मण काययोग। इनका लक्षण 'योगमार्गणासार' में देखना चाहिए।

आहारक काययोग का स्वरूप

आहारस्सुदयेण य, पमत्तविरदस्स होदि आहारं।
असंजमपरिहरणट्ठं, संदेहविणासणट्ठं च।।79।।

आहारस्योदयेन च प्रमत्तविरतस्य भवति आहारकम्।
असंयमपरिहरणार्थं संदेहविनाशनार्थं च।।79।।

अर्थ—असंयम का परिहार करने के लिए तथा संदेह को दूर करने के लिए आहारक ऋद्धि के धारक छट्ठे गुणस्थानवर्ती मुनि के आहारक शरीर नामकर्म के उदय से आहारक शरीर होता है।

भावार्थ—यह शरीर औदारिक अथवा वैक्रियिक शरीर की तरह जीवन भर नहीं रहा करता किन्तु जिनको आहारक ऋद्धि प्राप्त है ऐसे प्रमत्त मुनि अपने प्रयोजनवश उसको उत्पन्न किया करते हैं। इसके लिए मुनियों के मुख्यता दो प्रयोजन बताये गये हैं—असंयम का परिहार और संदेह का निवारण। ढाई द्वीप में पाए जाने वाले तीर्थों आदि की वंदना के लिये जाने में जो असंयम हो सकता है वह न हो इसलिये अर्थात् बिना असंयम के अंश के भी तीर्थक्षेत्रों आदि के वंदना कर्म की सिद्धि। इसी तरह कदाचित् श्रुत के किसी अर्थ के विषय में ऐसा कोई संदेह हो जो कि ध्यानादि के लिए बाधक हो और उसकी निवृत्ति केवली, श्रुतकेवली के बिना हो नहीं सकती हो तो उस संदेह को दूर करने के लिए भी आहारक शरीर का निर्माण हुआ करता है किन्तु यह शरीर आहारक शरीर नामकर्म के उदय के बिना नहीं हुआ करता तथा मुनियों के ही होता है और उनके भी अप्रमत्त अवस्था में न होकर प्रमत्त अवस्था में ही उत्पन्न हुआ करता है।

आहारक पुतला कब निकलता है ?

णियखेत्ते केवलिदुगंविरहे णिक्कमणपहुदिकल्लाणे।
परखेत्ते संवित्ते, जिणजिणघरवंदणट्ठं च।।80।।

निजक्षेत्रे केवलिद्विकविरहे निःक्रमणप्रभृतिकल्याणे।
परक्षेत्रे संवृत्ते जिनजिनगृहवंदनार्थं च।।80।।

अर्थ—अपने क्षेत्र में केवली तथा श्रुतकेवली का अभाव होने पर किन्तु दूसरे क्षेत्र में जहाँ पर कि औदारिक शरीर में उस समय पहुँचा नहीं जा सकता केवली या श्रुतकेवली के विद्यमान रहने पर अथवा तीर्थंकरों के दीक्षाकल्याणक आदि तीन कल्याणकों में से किसी के होने पर तथा जिन,

जिनगृह, चैत्य, चैत्यालयों की वंदना के लिये भी आहारक ऋद्धि वाले छट्ठे गुणस्थानवर्ती प्रमत्त मुनि के आहारक शरीर नामकर्म के उदय से यह शरीर उत्पन्न हुआ करता है।

योगरहित जीव कौन हैं और उनका स्वरूप क्या है इस बात का वर्णन करते हैं–

जेसिं ण संति जोगा, सुहासुहा पुण्णपावसंजणया।
ते होंति अजोगिजिणा, अणोवमाणंतबलकलिया।।81।।

येषां न सन्ति योगाः शुभाशुभाः पुण्यपापसंजनकाः।
ते भवन्ति अयोगिजिना अनुपमानन्तबलकलिताः।।81।।

अर्थ—जिनके पुण्य और पाप के कारणभूत शुभाशुभ योग नहीं है उनको अयोगिजिन कहते हैं। वे अनुपम और अनन्त बल से युक्त होते हैं।

भावार्थ–अंतिम गुणस्थानवर्ती तथा उससे अतीत आत्मा योग से रहित हैं। अस्मदादिक में बल योग के आश्रय से ही देखने या अनुभव में आता है। अतएव किसी को यह शंका न हो कि जो योग से रहित हैं वे बल से भी रहित होंगे। यहाँ कहा गया है कि वे इस तरह के बल से युक्त है कि जो अनुपम है और अनन्त है।

शरीर में कर्म और नोकर्म का विभाग करते हैं–

ओरालियवेगुव्विय, आहारयतेजणामकम्मुदये।
चउणोकम्मसरीरा, कम्मेव य होदि कम्मइयं।।82।।

औरालिकवैगूर्विकाहारकतेजोनामकर्मोदये।
चतुर्नोकर्मशरीराणि कर्मैव च भवति कार्मणम्।।82।।

अर्थ—औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस, नामकर्म के उदय से होने वाले चार शरीरों को नोकर्म कहते हैं और कार्मण शरीर नामकर्म के उदय से होने वाले ज्ञानावरणादिक आठ कर्मों के समूह को कार्मण शरीर कहते हैं।

भावार्थ—काय–शरीर के निमित्त से होने वाले आत्म प्रदेशों के परिस्पन्दन को काययोग कहा है। शरीर पाँच हैं। वे दो भागों में विभक्त हैं– कर्म और नोकर्म। तैजसशरीर योग में निमित्त नहीं माना है। नोकर्म में नो शब्द का अर्थ ईषत् और विरुद्ध होता है। औदारिकादिक कर्मों के सहायक

होने से ईषत् कर्म या नोकर्म है अथवा गुणों का साक्षात् घात करने और आत्म को पराधीन बनाने में कर्म के समान काम नहीं करते, इसलिए भी नोकर्म हैं।

योग मार्गणासार

प्रश्न—योग किसे कहते हैं ?

उत्तर—पुद्गलविपाकी शरीर नामकर्म के उदय से मन, वचन, काय से युक्त जीव की जो कर्मों के ग्रहण करने की कारणभूत शक्ति है उसको योग कहते हैं अर्थात् आत्मा की अनंत शक्तियों में से एक योग शक्ति भी है, उसके दो भेद हैं—भावयोग और द्रव्ययोग।

कर्मों को ग्रहण करने में कारणभूत जीव की शक्ति भावयोग और जीव के प्रदेशों का परिस्पंदन द्रव्ययोग है।

प्रश्न—योग के कितने भेद हैं ?

उत्तर—सत्य, असत्य, उभय और अनुभय के निमित्त से चार मन के और चार वचन के ऐसे आठ योग हुए और औदारिक, औदारिक मिश्र, वैक्रियक, वैक्रियक मिश्र, आहारक, आहारक मिश्र और कार्मण ऐसे सात काय के ऐसे मन, वचन, काय संबंधी पंद्रह योग होते हैं। सत्य के दश भेद हैं—

जनपद—जो व्यवहार में रूढ़ हों जैसे—भक्त, भात, चोरु आदि, **सम्मति सत्य** जैसे—साधारण स्त्री को देवी कहना, **स्थापना**—प्रतिमा को चंद्रप्रभ कहना, **नाम**—जिनदत्त कहना, **रूपसत्य**—बगुले को सफेद कहना, **प्रतीत्यसत्य**—बेल को बड़ा कहना, **व्यवहार**—सामग्री संचय करते समय भात पकाता हूँ, ऐसा कहना, **सम्भावना**—इंद्र जम्बूद्वीप को पलट सकता है ऐसा कहना। **भावसत्य**—शुष्क पक्व आदि को प्रासुक कहना, **उपमा सत्य**—पल्योपम आदि से प्रमाण बताना। ये दस प्रकार के सत्य वचन हैं। इनसे विपरीत असत्य वचन हैं। जिनमें दोनों मिश्र हों वे उभय वचन हैं एवं जो न सत्य हों न मृषा हों वे अनुभव वचन हैं। अनुभय वचन के नव भेद हैं—

आमंत्रणी—यहाँ आओ, **आज्ञापनी**—यह काम करो, **याचनी**—यह मुझको दो, **आपृच्छनी**—यह क्या है? **प्रज्ञापनी**—मैं क्या करूँ? **प्रत्याख्यानी**—मैं यह छोड़ता हूँ, **संशयवचनी**—यह बलाका है या पताका,

इच्छानुलोम्नी—मुझको ऐसा होना चाहिए और **अनक्षरगता**—जिसमें अक्षर स्पष्ट न हों, क्योंकि इनके सुनने से व्यक्त और अव्यक्त दोनों अंशों का ज्ञान होता है। द्वीन्द्रिय से असैनी पंचेन्द्रिय तक अनक्षर भाषा है और सैनी पंचेन्द्रिय की आमंत्रणी आदि भाषाएँ होती हैं।

केवली भगवान के सत्य मनोयोग, अनुभय मनोयोग, सत्यवचनयोग, अनुभयवचनयोग, औदारिक, औदारिकमिश्र और कार्मण ये सात योग होते हैं। शेष संसारी जीवों में यथासम्भव योग होते हैं। चौदहवें गुणस्थान में योगरहित अयोगी होते हैं।

औदारिक, औदारिक मिश्रयोग तिर्यंच व मनुष्यों के होते हैं। वैक्रियक मिश्र देव तथा नारकियों के होते हैं। आहारक, आहारक मिश्र छट्ठे गुणस्थानवर्ती मुनि के ही कदाचित् किन्हीं के हो सकता है। प्रमत्तविरत मुनि को किसी सूक्ष्म विषय में शंका होने पर या अकृत्रिम जिनालय की वंदना के लिए असंयम के परिहार करने हेतु आहारक पुतला निकलता है और यहाँ पर केवली के अभाव में अन्य क्षेत्र में केवली या श्रुतकेवली के निकट जाकर आता है और मुनि को समाधान हो जाता है।

आहारक ऋद्धि और विक्रियाऋद्धि का कार्य एक साथ नहीं हो सकता है, बादर अग्निकायिक, वायुकायिक और पंचेन्द्रिय तिर्यंचों के भी विक्रिया हो सकती है। देव, भोगभूमिज, चक्रवर्ती पृथक विक्रिया से शरीर आदि बना लेते हैं किन्तु नारकियों में अपृथक विक्रिया ही है। वे अपने शरीर को ही आयुध, पशु आदि रूप बनाया करते हैं। देव मूल शरीर को वहीं स्थान पर छोड़कर विक्रिया शरीर से ही जन्मकल्याणक आदि में आते हैं, मूल शरीर से कभी नहीं आते हैं। कार्मणयोग विग्रहगति में एक, दो या तीन समय तक होता है और समुद्घात केवली के होता है।

जो योग रहित, अयोगीजिन अनुपम और अनंत बल से युक्त हैं वे अ इ उ ऋ लृ इन पंच ह्रस्व अक्षर के उच्चारण मात्र काल में सिद्ध होने वाले हैं, उन्हें मेरा नमस्कार होवे।

(दशम अधिकार)

10. वेदमार्गणा

वेद का स्वरूप

पुरिसिच्छिसंढवेदोदयेण पुरिसिच्छिसंढओ भावे।
णामोदयेण दव्वे, पाएण समा कहिं विसमा।।83।।

पुरुषस्त्रीषण्ढवेदोदयेन पुरुषस्त्रीषण्ढाः भावे।
नामोदयेन द्रव्ये प्रायेण समाः क्वचिद् विषमाः।।83।।

अर्थ—पुरुष, स्त्री और नपुंसक वेदकर्म के उदय से भावपुरुष, भावस्त्री, भावनपुंसक होता है और नामकर्म के उदय से द्रव्यपुरुष, द्रव्यस्त्री, द्रव्यनपुंसक होता है। सो यह भाव वेद और द्रव्य वेद प्रायः करके समान होता है परन्तु कहीं-कहीं विषम भी होता है।

भावार्थ—वेद नामक नो कषाय के उदय से जीवों के भाववेद होता है और निर्माण नामकर्म सहित आंगोपांग नामकर्म के उदय से द्रव्य वेद होता है। ये दोनों ही वेद प्रायः करके तो समान ही होते हैं अर्थात् जो भाव वेद वही द्रव्य वेद और जो द्रव्य वेद वही भाव वेद। परन्तु कहीं-कहीं विषमता भी हो जाती है अर्थात् भाववेद दूसरा द्रव्यवेद दूसरा। यह विषमता देवगति और नरकगति में तो सर्वथा नहीं पाई जाती। मनुष्य और तिर्यग्गति में जो भोगभूमिज हैं उनमें भी नहीं पाई जाती, बाकी के तिर्यग् मनुष्यों में क्वचित् वैषम्य भी पाया जाता है।

पुरुषवेद का स्वरूप

पुरुगुणभोगे सेदे, करेदि लोयम्मि पुरुगुणं कम्मं।
पुरुउत्तमो य जम्हा, तम्हा सो वण्णिओ पुरिसो।।84।।

पुरुगुणभोगे शेते करोति लोके पुरुगुणं कर्म।
पुरुरुत्तमश्च यस्मात् तस्मात् स वर्णितः पुरुषः।।84।।

अर्थ—उत्कृष्ट गुण अथवा उत्कृष्ट भोगों का जो स्वामी हो अथवा जो लोक में उत्कृष्ट गुणयुक्त कर्म को करे, यद्वा जो स्वयं उत्तम हो उसको पुरुष कहते हैं।

भावार्थ—उत्कृष्ट सम्यग्ज्ञानादि गुणों का वह स्वामी होता है, इंद्र चक्रवर्ती आदि पदों को भोगता है, चारों पुरुषार्थों का पालन करता है, परमेष्ठी पद में स्थित रहता है इसलिये इसको पुरुष कहते हैं।

स्त्रीवेद का स्वरूप

छादयदि सयं दोसे, णयदो छाददि परं वि दोसेण।
छादणसीला जम्हा, तम्हा सा वण्णिया इत्थी।।85।।

छादयति स्वकं दौषैः नयतः छायदति परमपि दोषेण।
छादनशीला यस्मात् तस्मात् सा वर्ण्णिता स्त्री।।85।।

अर्थ—जो मिथ्यादर्शन, अज्ञान, असंयम आदि दोषों से अपने को आच्छादित करे और मृदुभाषण, तिरछी चितवन आदि व्यापार से जो दूसरे पुरुषों को भी हिंसा, अब्रह्म आदि दोषों से आच्छादित करे उसको आच्छादन—स्वभावयुक्त होने से स्त्री कहते हैं।

भावार्थ—यद्यपि तीर्थंकरों की माता या सम्यक्त्वादि गुणों से भूषित दूसरी भी बहुत सी स्त्रियाँ अपने को तथा दूसरों को दोषों से आच्छादित नहीं भी करती हैं—उनमें यह लक्षण नहीं भी घटित होता है तब भी बहुलता की अपेक्षा यह निरुक्ति सिद्ध लक्षण किया है। निरुक्ति के द्वारा मुख्यतया प्रकृति प्रत्यय से निष्पन्न अर्थ का बोध मात्र कराया जाता है।

नपुंसकवेद का स्वरूप

णेवित्थी णेव पुमं, णउंसओ उहयलिंगवदिरित्तो।
इट्ठावग्गिसमाणगवेदणगरुओ कलुसचित्तो।।86।।

नैव स्त्री नैव पुमान् नपुंसक उभयलिंगव्यतिरिक्तः।
इष्टापाकाग्निसमानकवेदनागुरुकः कलुषचित्तः।।86।।

अर्थ—जो न स्त्री हो और न पुरुष हो, ऐसे दोनों ही लिंगों से रहित जीव को नपुंसक कहते हैं। इसके अवा (भट्ठा) में पकती हुई ईंट की अग्नि के समान तीव्र कषाय होती है। अतएव इसका चित्त प्रति समय कलुषित रहता है।

वेदरहित जीवों को बताते हैं–

तिणकारिसिट्ठपागग्गिसरिसपरिणामवेदणुम्मुक्का।
अवगयवेदा जीवा, सगसंभवणंतवरसोक्खा।।87।।

तृणकारीषेष्टपाकाग्निसदृशपरिणामवेदनोन्मुक्ताः।
अपगतवेदा जीवाः स्वकसम्भवानन्तरवरसौख्याः।।87।।

अर्थ—तृण की अग्नि, कारीष अग्नि, इष्टपाक अग्नि (अवा की अग्नि) के समान वेद के परिणामों से रहित जीवों को अपगतवेद कहते हैं। ये जीव अपनी आत्मा से ही उत्पन्न होने वाले अनन्त और सर्वोत्कृष्ट सुख को भोगते हैं।

भावार्थ–तृण की अग्नि के समान पुरुषवेद की कषाय और कारीष–कंडे की अग्नि के समान स्त्रीवेद की कषाय तथा अवा–भट्टे की अग्नि के समान नपुंसक वेद की कषाय से जो रहित हैं, वे दुःखी नहीं हैं किन्तु आत्मोत्थ सर्वोत्कृष्ट अनन्त सुख के भोक्ता हुआ करते हैं।

वेद मार्गणासार

प्रश्न–वेद किसे कहते हैं ?

उत्तर–पुरुषादि के उस रूप परिणाम को या शरीर चिन्ह को वेद कहते हैं। वेदों के दो भेद हैं—भाववेद, द्रव्यवेद।

मोहनीय कर्म के अंतर्गत वेद नामक नोकषाय के उदय से जीवों के भाववेद होता है और निर्माण नामकर्म सहित आंगोपांग नामकर्म के उदय से द्रव्यवेद होता है अर्थात् तद्रूप परिणाम को भाववेद और शरीर की रचना को द्रव्यवेद कहते हैं। ये दोनों वेद कहीं समान होते हैं और कहीं विषम भी होते हैं।

वेद के तीन भेद होते हैं—पुरुष, स्त्री और नपुंसक वेद। नरकगति में द्रव्य और भाव दोनों वेद नपुंसक ही हैं। देवगति में पुरुष, स्त्री रूप दो वेद हैं जिनके जो द्रव्यवेद है वही भाववेद रहता है यही बात भोगभूमिजों में भी है।

कर्मभूमि के तिर्यंच और मनुष्य में विषमता पाई जाती है। किसी का द्रव्यवेद पुरुष है तो भाववेद पुरुष, स्त्री या नपुंसक कोई भी रह सकता

है, हाँ! जन्म से लेकर मरण तक एक ही वेद का उदय रहता है, बदलता नहीं है। द्रव्य से पुरुषवेदी आदि भाव से स्त्रीवेदी या नपुंसकवेदी है फिर भी मुनि बनकर छठे-सातवें आदि गुणस्थानों को प्राप्त कर मोक्ष जा सकते हैं। किन्तु यदि द्रव्य से स्त्रीवेद है और भाव से पुरुषवेद है तो भी उसके पंचम गुणस्थान के ऊपर नहीं हो सकता है। अतएव दिगम्बर आम्नाय में स्त्री मुक्ति का निषेध है।

पुरुष वेद—जो उत्कृष्ट गुण या भोगों के स्वामी हैं, लोक में उत्कृष्ट कर्म को करते हैं, स्वयं उत्तम हैं वे पुरुष हैं।

स्त्रीवेद—जो मिथ्यात्व, असंयम आदि से अपने को दोषों से ढके और मृदु भाषण आदि से पर के दोषों को ढके वह स्त्री है।

नपुंसकवेद—जो स्त्री और पुरुष इन दोनों लिंगों से रहित हैं, ईंट के भट्टे की अग्नि के समान कषाय वाले हैं वे नपुंसक हैं।

स्त्री और पुरुष का यह सामान्य लक्षण है, वास्तव में रावण आदि अनेक पुरुष भी दोषी देखे जाते हैं और भगवान की माता, आर्यिका महासती सीता आदि अनेक स्त्रियाँ महान् श्रेष्ठ देखी जाती हैं। अतः सर्वथा एकान्त नहीं समझना चाहिए।

जो तृण की अग्निवत् पुरुषवेद की कषाय, कंडे की अग्निवत् स्त्रीवेद की कषाय और अवे की अग्नि के समान नपुंसकवेद की कषाय से रहित अपगतवेदी हैं, वे अपनी आत्मा से ही उत्पन्न अनंत सुख को भोगते रहते हैं।

(ग्यारहवाँ अधिकार)

11. कषाय मार्गणा

कषाय का स्वरूप

सुहदुखसुबहुसस्सं कम्मक्खेत्तं कसेदि जीवस्स।
संसारदूरमेरं तेण कसाओ त्ति णं बेंति।।88।।

सुखदुःखसुबहुसस्यं कर्मक्षेत्रं कृषति जीवस्य।
संसारदूरमर्यादं तेन कषाय इतीमं ब्रुवन्ति।।88।।

अर्थ—जीव के सुख-दुःख आदि रूप अनेक प्रकार के धान्य को उत्पन्न करने वाले तथा जिसकी संसार रूप मर्यादा अत्यंत दूर है ऐसे कर्मरूपी क्षेत्र (खेत) का यह कर्षण करता है, इसलिये इसको कषाय कहते हैं।

भावार्थ—कृष विलेखने धातु से यह कषाय शब्द बना है जिसका अर्थ जोतना होता है। कषाय यह किसान के स्थानापन्न है। जिस तरह किसान लम्बे चौड़े खेत को इसलिये जोतता है कि उसमें बोया हुआ बीज अधिक से अधिक प्रमाण में उत्पन्न हो उसी तरह कषाय द्रव्यापेक्षया अनाद्यनिधन कर्मरूपी क्षेत्र को जिसकी कि सीमा बहुत दूर तक है इस तरह से जोतता है कि शुभाशुभ फल इसमें अधिक से अधिक उत्पन्न हों।

कषाय का कार्य एवं भेद

सम्मत्तदेससयलचरित्तजहक्खादचरणपरिणामे।
घादंति वा कसाया, चउसोल असंखलोगमिदा।।89।।

सम्यक्त्वदेशसकलचरित्रयथाख्यातचरणपरिणामान्।
घातयन्ति वा कषायाः चतुःषोडशासंख्यलोकमिताः।।89।।

अर्थ—सम्यक्त्व, देशचारित्र, सकलचारित्र, यथाख्यातचारित्ररूपी परिणामों को जो कषे—घाते, न होने दे उसको कषाय कहते हैं। इसके अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण एवं संज्वलन इस प्रकार चार भेद हैं। अनंतानुबंधी आदि चारों के क्रोध, मान, माया, लोभकषाय

इस तरह चार-चार भेद होने से कषाय के उत्तर भेद सोलह होते हैं किन्तु कषाय के उदयस्थानों की अपेक्षा से असंख्यात लोकप्रमाण भेद हैं। (जो सम्यक्त्व को रोके उसको अनंतानुबंधी, जो देशचारित्र को रोके उसको अप्रत्याख्यानावरण, जो सकलचारित्र को रोके उसको प्रत्याख्यानावरण, जो यथाख्यातचारित्र को रोके उसको संज्वलन कषाय कहते हैं।

भावार्थ—हिंसार्थक कष धातु से भी कषाय शब्द निष्पन्न होता है अर्थात् सम्यक्त्वादि विशुद्धात्मपरिणामान् कषति हिनस्ति इति कषायः। इसके भेद ऊपर लिखे अनुसार होते हैं।

शक्ति की अपेक्षा क्रोध के चार भेद

सिलपुढविभेदधूलीजलराइसमाणओ हवे कोहो।
णारयतिरियणरामरगईसु उप्पायओ कमसो।।90।।

शिलापृथ्वीभेदधूलिजलराजिसमानको भवेत् क्रोधः।
नारकतिर्यग्नरामरगतिषूत्पादः क्रमशः।।90।।

अर्थ—क्रोध चार प्रकार का होता है। एक पत्थर की रेखा के समान, दूसरा पृथ्वी की रेखा के समान, तीसरा धूलि रेखा के समान, चौथा जल रेखा के समान। ये चारों प्रकार के क्रोध क्रम से नरक, तिर्यक्, मनुष्य तथा देवगति में उत्पन्न करने वाले हैं।

भावार्थ—ऊपर जो कषाय के अनंतानुबंधी आदि चार भेद बताये हैं वे उसके स्वरूप और विषय को बताते हैं। जिससे उनका जाति भेद और वे आत्मा के किस-किस गुण का घात करते हैं यह मालूम हो जाता है। इस गाथा में सब प्रकार के क्रोधों में से प्रत्येक क्रोध के उसकी शक्ति के तरतम स्थानों की अपेक्षा चार-चार भेद बताये हैं। साथ ही इन तरतम स्थानों के द्वारा बंधने वाले कर्मों और प्राप्त होने वाले संसार फल की विशेषता को भी दिखाया है। शक्ति की अपेक्षा क्रोध के चार भेद इस प्रकार हैं—उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, अजघन्य और जघन्य। इन्हीं चार भेदों को यहाँ पर क्रम से दृष्टांतगर्भित शिला भेद आदि नाम से बताया है। जिस तरह शिला, पृथ्वी, धूलि और जल में की गई रेखा उत्तरोत्तर अल्प-अल्प समय में मिटती है उसी तरह

उत्कृष्टादि कषाय स्थानों के विषय में समझना चाहिए तथा वे अपने-अपने योग्य आयु, गति, आनुपूर्वी आदि कर्मों के बंधन की योग्यता रखते हैं।

मान के चार भेद

सेलट्ठिकट्ठवेत्ते, णियभेएणणुहरंतओ माणो।
णारयतिरियणरामरगईसु उप्पायओ कमसो।।91।।

शैलास्थिकाष्ठवेत्रान् निजभेदेनानुहरन् मानः।
नारकतिर्यग्नरामरगतिषूत्पादकः क्रमशः।।91।।

अर्थ—मान भी चार प्रकार का होता है। पत्थर के समान, हड्डी के समान, काठ के समान तथा बेंत के समान। ये चार प्रकार के मान भी क्रम से नरक, तिर्यंच, मनुष्य तथा देवगति के उत्पादक हैं।

भावार्थ—जिस प्रकार पत्थर किसी तरह नहीं नमता उसी प्रकार जिसके उदय से जीव किसी भी तरह नम्र न हो उसको शैल समान (पत्थर के समान) मान कहते हैं। ऐसे मान के उदय से नरकगति उत्पन्न होती है। इस ही तरह अस्थि समान (हड्डी के समान) आदिक मान को भी समझना चाहिए।

माया के चार भेद

वेणुवमूलोरब्भयसिगे गोमुत्तए य खोरप्पे।
सरिसी माया णारयतिरियणरामरगईसु खिवदि जियं ९२।।

वेणूपमूलोरभ्रकशृंगेण गोमूत्रेण च क्षुरप्रेण।
सदृशी माया नारकतिर्यग्नरामरगतिषु क्षिपति जीवम् ९२।।

अर्थ—माया भी चार प्रकार की होती है। बाँस की जड़ के समान, मेढे के सींग के समान, गो मूत्र के समान, खुरपा के समान। यह चार तरह की माया भी क्रम से जीव को नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवगति में ले जाती है।

भावार्थ—माया के ये चार भेद कुटिलता की अपेक्षा से हैं। जितनी अधिक कुटिलता जिसमें पाई जाये वह उतनी ही उत्कृष्ट माया कही जाती

है और वह उक्त क्रमानुसार गतियों की उत्पादक होती है। वेणुमूल में सबसे अधिक वक्रता पाई जाती है इसलिये शक्ति की अपेक्षा उत्कृष्ट माया का यह दृष्टांत है। इसी प्रकार अनुत्कृष्ट माया का मेषशृंग, अजघन्य माया का गोमूत्र और जघन्य माया का खुरपा दृष्टांत समझना चाहिए।

लोभ के चार भेद

किमिरायचक्कतणुमलहरिद्दराएण सरिसओ लोहो।
णारयतिरिक्खमाणुसदेवेसुप्पायओ कमसो।।93।।

क्रिमिरागचक्रतनुमलहरिद्रारागेण सदृशो लोभः।
नारकतिर्यग्मानुषदेवेषूत्पादकः क्रमशः।।93।।

अर्थ—लोभ कषाय भी चार प्रकार की है। क्रिमिराग के समान, चक्रमल (रथ आदिक के पहियों के भीतर का ओंगन) के समान, शरीर के मल के समान, हल्दी के रंग के समान। यह भी क्रम से नरक, तिर्यंच, मनुष्य एवं देवगति की उत्पादक है।

भावार्थ—जिस प्रकार किरिमिजी का रंग अत्यंत गाढ़ होता है—बड़ी ही मुश्किल से छूटता है उसी प्रकार जो लोभ सबसे अधिक गाढ़ हो उसको किरिमिजी के समान कहते हैं। इससे जो जल्दी-जल्दी छूटने वाले हैं उनको क्रम से ओंगन, शरीर मल, हल्दी के रंग के सदृश समझना चाहिए।

कषाय रहित जीवों का स्वरूप

अप्पपरोभयबाधणबंधा संजमणिमित्तकोहादी।
जेसिं णत्थि कसाया अमला अकसाइणो जीवा।।94।।

आत्मपरोभयबाधनबन्धा संयमनिमित्तक्रोधादयः।
येषां न सन्ति कषाया अमला अकषायिणो जीवाः।।94।।

अर्थ—जिनके स्वयं को, दूसरे को तथा दोनों को ही बाधा देने और बंधन करने तथा असंयम करने में निमित्तभूत क्रोधादिक कषाय नहीं हैं तथा जो बाह्य और अभ्यन्तर मल से रहित हैं ऐसे जीवों को अकषाय कहते हैं।

भावार्थ—यद्यपि गाथा में कषाय शब्द का ही उल्लेख है तथापि यहाँ

नोकषाय का भी ग्रहण कर लेना चाहिए। गुणस्थानों की अपेक्षा ग्यारहवें गुणस्थान से लेकर सभी जीव अकषाय हैं।

कषाय मार्गणासार

जीव के सुख-दुःख आदि रूप अनेक प्रकार के धान्य को उत्पन्न करने वाले तथा जिसकी संसाररूप मर्यादा अत्यन्त दूर है, ऐसे कर्मरूपी क्षेत्र (खेत) का यह कर्षण करता है, इसलिए इसको कषाय कहते हैं।

"सम्यक्त्वादि विशुद्धात्म परिणामान् कषति हिनस्ति इति कषायः" सम्यक्त्व, देशचारित्र, सकलचारित्र, यथाख्यातचारित्ररूपी परिणामों को जो कषे–घाते, न होने दे उसको कषाय कहते हैं। इसके अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण एवं संज्वलन इस प्रकार चार भेद हैं। अनंतानुबंधी आदि चारों के क्रोध, मान, माया, लोभ इस तरह चार-चार भेद होने से कषाय के उत्तर भेद सोलह होते हैं किन्तु कषाय के उदयस्थानों की अपेक्षा से असंख्यात लोक प्रमाण भेद हैं। जो सम्यक्त्व को रोके उसको अनंतानुबंधी, जो देशचारित्र को रोके उसको अप्रत्याख्यानावरण, जो सकलचारित्र को रोके उसको प्रत्याख्यानावरण और जो यथाख्यातचारित्र को रोके उसको संज्वलन कषाय कहते हैं।

क्रोध चार प्रकार का होता है। एक पत्थर की रेखा के समान, दूसरा पृथ्वी की रेखा के समान, तीसरा धूलि रेखा के समान और चौथा जलरेखा के समान। ये चारों प्रकार के क्रोध क्रम से नरक, तिर्यक्, मनुष्य तथा देवगति में उत्पन्न करने वाले हैं।

मान भी चार प्रकार का होता है। पत्थर के समान, हड्डी के समान, काठ के समान तथा बेंत के समान। ये चार प्रकार के मान भी क्रम से नरक, तिर्यंच, मनुष्य तथा देवगति के उत्पादक हैं।

माया भी चार प्रकार की होती है। बांस की जड़ के समान, मेढे के सींग के समान, गोमूत्र के समान, खुरपा के समान। यह चार तरह की माया भी क्रम से जीव को नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवगति में ले जाती है।

लोभ कषाय भी चार प्रकार की होती है। क्रिमिराग के समान, चक्रमल

अर्थात् रथ आदिक के पहियों के भीतर के ओंगन के समान, शरीर के मल के समान, हल्दी के रंग के समान। यह भी क्रम से नरक, तिर्यंच, मनुष्य एवं देवगति की उत्पादक है।

जिनके स्वयं को, दूसरे को तथा दोनों को ही बाधा देने और बंधन करने तथा असंयम करने में निमित्तभूत क्रोधादिक कषाय नहीं है तथा जो बाह्य और अभ्यंतर मल से रहित हैं ऐसे जीवों को अकषाय कहते हैं।

शक्ति, लेश्या तथा आयु के बंधाबंधगत भेदों की अपेक्षा से क्रोधादि कषायों के क्रम से चार, चौदह और बीस स्थान होते हैं।

यह चारों ही कषाय जीव को चारों गतियों में परिभ्रमण कराने वाली एवं महान दुख को उत्पन्न करने वाली हैं अतः इनका सर्वथा त्याग कर अपनी आत्मा को भगवान आत्मा बनाने का पुरुषार्थ करना चाहिए।

(बारहवाँ अधिकार)

12. ज्ञानमार्गणा

ज्ञान का स्वरूप

जाणइ तिकालविसए, दव्वगुणे पज्जए य बहुभेदे।
पच्चक्खं च परोक्खं, अणेण णाणं ति णं बेंति।।95।।

जानाति त्रिकालविषयान् द्रव्यगुणान् पर्यायांश्च बहुभेदान्।
प्रत्यक्ष च परोक्षमनेन ज्ञानमिति इदं ब्रुवन्ति।।95।।

अर्थ—जिसके द्वारा जीव त्रिकालविषयक भूत, भविष्यत्, वर्तमान काल सम्बंधी समस्त द्रव्य और उनके गुण तथा उनकी अनेक प्रकार की पर्यायों को जाने उसको ज्ञान कहते हैं। इसके दो भेद हैं—एक प्रत्यक्ष दूसरा परोक्ष।

भावार्थ—छह द्रव्य—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल। पंच अस्तिकाय—काल को छोड़कर बाकी द्रव्य, सात तत्त्व—जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष। नव पदार्थ—पुण्य-पाप सहित सात तत्त्व। इनके गुण और इन द्रव्यों आदि की अनेक प्रकार की पर्यायों—अवस्थाओं के त्रैकालिक स्वरूप को जिसके द्वारा जाना जाय उसको ज्ञान कहते हैं। अवबोधार्थक ज्ञान धातु से यह शब्द निष्पन्न हुआ है। जीव की चैतन्य शक्ति के साकार परिणमन रूप उपयोग को ही ज्ञान कहते हैं। द्रव्य गुण और उनकी त्रैकालिक अवस्थाएं उसके विषय हैं। इस ज्ञान के सामान्यतया दो भेद हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। आत्मा के सिवाय—उससे भिन्न इंद्रिय और मन की अपेक्षा—सहायता से जो होता है उसको परोक्ष ज्ञान कहते हैं। जो विशद है, स्पष्ट है, इंद्रिय और मन की सहायता के बिना ही अपने विषय को ग्रहण करता है उसको प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं।

कुमतिज्ञान का स्वरूप

विसजंतकूडपंजरबंधादिसु विणुवएसकरणेण।
जा खलु पवट्टइ मई, मइअण्णाणं ति णं बेति।।96।।

विषयन्त्रकूटपंजरबंधादिषु विनोपदेशकरणेन।
या खलु प्रवर्तते मतिः मत्यज्ञानमिति इदं ब्रुवन्ति।।96।।

अर्थ—दूसरे के उपदेश के बिना ही विष, यन्त्र, कूट, पंजर तथा बंध आदिक के विषय में जो बुद्धि प्रवृत्त होती है उसको सत्यज्ञान कहते हैं।

भावार्थ—जिसके खाने से जीव मर सके उस द्रव्य को विष कहते हैं। भीतर पैर रखते ही जिसके किवाड़ बंद हो जाएँ और जिसके भीतर बकरी आदि को बाँधकर सिंह आदिक को पकड़ा जाता है उसको यंत्र कहते हैं। जिससे चूहे वगैरह पकड़े जाते हैं उसको कूट कहते हैं। रस्सी में गाँठ लगाकर जो जाल बनाया जाता है उसको पंजर कहते हैं। हाथी आदि को पकड़ने के लिए जो गड्ढे आदिक बनाए जाते हैं उनको बंध कहते हैं, इत्यादि पदार्थों में दूसरे के उपदेश के बिना जो बुद्धि प्रवृत्त होती है उसको मत्यज्ञान कहते हैं, क्योंकि उपदेशपूर्वक होने से वह ज्ञान श्रुतज्ञान कहा जाएगा।

कुश्रुतज्ञान का स्वरूप

आभीयमासुरक्खं, भारहरामायणादिउवएसा।
तुच्छा असाहणीया, सुयअण्णाणं ति णं बेंति।।97।।

आभीतमासुरक्षं भारतरामायणाद्युपदेशाः।
तुच्छा असाधनीया श्रुताज्ञानमिति इदं ब्रुवन्ति।।97।।

अर्थ—चौरशास्त्र तथा हिंसाशास्त्र, भारत रामायण आदि के परमार्थ शून्य अतएव अनादरणीय उपदेशों को मिथ्या श्रुतज्ञान कहते हैं।

भावार्थ—आदि शब्द से सभी हिंसादि पाप कर्मों के विधायक तथा असमीचीन तत्त्व के प्रतिपादक ग्रंथों को कुश्रुत और उनके ज्ञान को कुश्रुतज्ञान समझना चाहिए।

कुअवधिज्ञान का स्वरूप

विबरीयमोहिणाणं, खओवसमियं च कम्मबीजं च।
वेभंगो त्ति पउच्चइ, समत्तणाणीण समयम्हि।।98।।

विपरीतमवधिज्ञानं क्षायोपशमिकं च कर्म्मबीजं च।
विभंग इति प्रोच्यते समाप्तज्ञानिनां समये।।98।।

अर्थ—सर्वज्ञ के द्वारा उपदिष्ट आगम में विपरीत अवधिज्ञान को विभंग कहते हैं। इसके दो भेद हैं—एक क्षायोपशमिक दूसरा भवप्रत्यय।

भावार्थ—देव नारकियों के विपरीत अवधिज्ञान को भवप्रत्यय विभंग कहते हैं और मनुष्य तथा तिर्यंचों के विपरीत अवधिज्ञान को क्षायोपशमिक विभंग कहते हैं। इस विभंग का अंतरंग कारण मिथ्यात्व आदिक कर्म है। विभंग शब्द का निरुक्तिसिद्ध अर्थ यह है कि मिथ्यात्व या अनंतानुबंधी कषाय के उदय से अवधिज्ञान की विशिष्टता—समीचीनता का भंग होकर उसमें अयथार्थता आ जाती है, इसलिए उसको विभंग कहते हैं। इसको कर्मबीज इसलिए कहा है कि मिथ्यात्वादि कर्मों के बंध का वह कारण है। परन्तु साथ ही च शब्द का उच्चारण करके यह भी सूचित कर दिया गया है कि कदाचित् नरकादि गतियों में पूर्वभव का ज्ञान कराकर वह सम्यक्त्व की उत्पत्ति में भी निमित्त हो जाता है।

मतिज्ञान का स्वरूप

अहिमुहणियमियबोहणमाभिणिबोहियमणिंदिइंदियजं।
अवगहईहावायाधारणगा होंति पत्तेयं।।99।।

अभिमुखनियमितबोधनमाभिनिबोधिकमनिन्द्रियेन्द्रियजम्।
अवग्रहेहावायधारणका भवन्ति प्रत्येकम्।।99।।

अर्थ—इन्द्रिय और अनिन्द्रिय (मन) की सहायता से अभिमुख और नियमित पदार्थ का जो ज्ञान होता है उसको आभिनिबोधिक कहते हैं। इसमें प्रत्येक के अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा ये चार-चार भेद हैं।

भावार्थ—स्थूल वर्तमान योग्य क्षेत्र में अवस्थित पदार्थ को अभिमुख कहते हैं और जैसे—चक्षु का रूप विषय नियत है इस ही तरह जिस-जिस इंद्रिय का जो-जो विषय निश्चित है उसको नियमित कहते हैं। इस तरह के पदार्थों का मन अथवा स्पर्शन आदिक पाँच इंद्रियों की सहायता से जो ज्ञान होता है उसको आभिनिबोधिक मतिज्ञान कहते हैं। इस प्रकार मन और इंद्रिय रूप सहकारी निमित्त भेद की अपेक्षा से मतिज्ञान के छह भेद हो जाते हैं। इसमें भी प्रत्येक के अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा ये चार-चार भेद हैं।

प्रत्येक के चार-चार भेद होते हैं, इसलिये छह को चार से गुणा करने पर मतिज्ञान के चौबीस भेद हो जाते हैं।

श्रुतज्ञान का स्वरूप

अत्थादो अत्थंतरमुवलंभंतं भणंति सुदणाणं।
आभिणिबोहियपुव्वं, णियमेणिह सद्दजं पमुहं।।100।।

अर्थादर्थान्तरमुपलभमानं भणन्ति श्रुतज्ञानम्।
आभिनिबोधिकपूर्वं नियमेनेह शब्दजं प्रमुखम्।।100।।

अर्थ—मतिज्ञान के विषयभूत पदार्थ से भिन्न पदार्थ के ज्ञान को श्रुतज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान नियम से मतिज्ञानपूर्वक होता है। इस श्रुतज्ञान के अक्षरात्मक, अनक्षरात्मक इस तरह अथवा शब्दजन्य और लिंगजन्य इस तरह से दो भेद हैं किन्तु इनमें शब्दजन्य श्रुतज्ञान मुख्य है।

भावार्थ—मतिज्ञान के द्वारा जाने हुए पदार्थ का अवलम्बन लेकर किन्तु उससे भिन्न ही अर्थ को श्रुतज्ञान विषय किया करता है अतएव यह नियम है कि मतिज्ञानपूर्वक ही श्रुतज्ञान हुआ करता है। मतिज्ञान के विषय का अवलम्बन लिये बिना श्रुतज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ करता। यद्यपि उसका मूल कारण श्रुतज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम है फिर भी उसको मतिज्ञान के विषय का अवलम्बन चाहिये।

श्रुतज्ञान के यद्यपि अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक अथवा शब्दज और लिंगज, इस तरह दो भेद हैं किन्तु अक्षरात्मक–शब्दजन्य श्रुतज्ञान ही मुख्य माना है क्योंकि प्रथम तो निरुक्त्यर्थ करने पर उसके विषय में शब्द प्रधानता स्वयं व्यक्त हो जाती है। दूसरी बात यह कि नामोच्चारण लेन-देन आदि समस्त लोकव्यवहार में तथा उपदेश, शास्त्राध्ययन, ध्यान आदि की अपेक्षा मोक्षमार्ग में भी शब्द और तज्जन्य बोध—श्रुतज्ञान की ही मुख्यता है। अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक सभी जीवों के पाया जाता है परन्तु वह लोकव्यवहार और मोक्षमार्ग में भी उस तरह उपयोगी न होने के कारण मुख्य नहीं है फिर भी यहाँ आचार्य ने उसके स्वरूप का परिज्ञान कराया है।

दूसरी तरह से श्रुतज्ञान के भेद

पज्जायक्खरपदसंघादं पडिवत्तियाणिजोगं च।
दुगवारपाहुडं च य, पाहुडयं वत्थु पुव्वं च।।101।।

पर्यायाक्षरपदसंघातं प्रतिपत्तिकानुयोगं च।
द्विकवारप्राभृतं च च प्राभृतकं वस्तुपूर्वं च।।101।।

तेसिं च समासेहि य, वीसविहं वा हु होदि सुदणाणं।
आवरणस्स वि भेदा, तत्तियमेत्ता हवंति त्ति।।102।।

तेषां च समासैश्च विंशविधं वा हि भवति श्रुतज्ञानम्।
आवरणस्यापि भेदाः तावन्मात्रा भवन्ति इति।।102।।

अर्थ—पर्याय, पर्यायसमास, अक्षर, अक्षरसमास, पद, पदसमास, संघात, संघातसमास, प्रतिपत्तिक, प्रतिपत्तिकसमास, अनुयोग, अनुयोगसमास, प्राभृतप्राभृत, प्राभृतप्राभृतसमास, प्राभृत, प्राभृतसमास, वस्तु, वस्तुसमास, पूर्व, पूर्वसमास इस तरह श्रुतज्ञान के बीस भेद हैं। इस ही लिए श्रुतज्ञानावरण कर्म के भी बीस भेद होते हैं किन्तु पर्यायावरण कर्म के विषय में कुछ भेद है।

पर्याय ज्ञान किसको होता है ?

सुहमणिगोदअपज्जत्तयस्स जादस्स पढमसमयम्हि।
हवदि हु सव्वजहण्णं णिच्चुग्घाडं णिरावरणं।।103।।

सूक्ष्मनिगोदापर्याप्तकस्य जातस्य प्रथमसमये।
भवति हि सर्वजघन्यं नित्योद्घाटं निरावरणम्।।103।।

अर्थ—सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव के उत्पन्न होने के प्रथम समय में सबसे जघन्य ज्ञान होता है। इसी को पर्याय ज्ञान कहते हैं। इतना ज्ञान हमेशा निरावरण तथा प्रकाशमान रहता है।

ग्यारह अंगों के नाम और उनके पदों की संख्या बताते हैं–

आयारे सुद्दयडे, ठाणे समवायणामगे अंगे।
तत्तो विक्खापण्णत्तीए णाहस्स धम्मकहा।।104।।

आचारे सूत्रकृते स्थाने समवायनामके अंगे।
ततो व्याख्याप्रज्ञप्तौ नाथस्य धर्मकथायां।।104।।

तोवासयअज्झयणे, अंतयडे णुत्तरोववाददसे।
पण्हाणं वायरणे, विवायसुत्ते य पदसंखा।।105।।

तत उपासकाध्ययने अन्तकृते अनुत्तरौपपाददशे।
प्रश्नानां व्याकरणे विपाकसूत्रे च पदसंख्या।।105।।

अर्थ–आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, धर्मकथांग, उपासकाध्ययनांग, अन्तःकृद्दशांग, अनुत्तरौपपादिकदशांग, प्रश्नव्याकरण और विपाकसूत्र इन ग्यारह अंगों के पदों की संख्या क्रम से निम्नलिखित है। अर्थात् पूर्वोक्त ग्यारह अंगों के पदों का जोड़ चार करोड़ पन्द्रह लाख दो हजार (41502000) होता है।

बारहवें अंग के भेद और उनके पदों का प्रमाण बताते हैं–

चंदरविजंबुदीवयदीवसमुद्दयवियाहपण्णत्ती।
परियम्मं पंचविहं सुत्तं पढमाणिजोगमदो।।106।।

चन्द्ररविजम्बूद्वीपकद्वीपसमुद्रकव्याख्याप्रज्ञप्तयः।
परिकर्मपंचविधं सूत्रं प्रथमानुयोगमतः।।106।।

पुव्वं जलथलमाया आगासपरूवगयमिमा पंच।
भेदा हु चूलियाए तेसु पमाणं इणं कमसो।।107।।

पूर्वं जलस्थलमायाकाशकरूपगता इमे पंच।
भेदा हि चूलिकाया तेषु प्रमाणमिदं क्रमशः।।107।।

अर्थ–बारहवें दृष्टिवाद अंग के पाँच भेद हैं– परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका। इसमें परिकर्म के पाँच भेद हैं– चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, द्वीपसागरप्रज्ञप्ति और व्याख्याप्रज्ञप्ति। सूत्र का अर्थ सूचित करने वाला है। इस भेद में जीव अबंधक ही है, अकर्त्ता ही है, निर्गुण ही हैं, अभोक्ता ही है, स्वप्रकाशक ही है, परप्रकाशक ही है, अस्तिरूप ही है, नास्तिरूप ही है, इत्यादि क्रियावाद, अक्रियावाद, अज्ञान, विनयरूप 363

मिथ्यामतों को पूर्वपक्ष में रखकर दिखाया गया है। प्रथमानुयोग का अर्थ है कि प्रथम अर्थात् मिथ्यादृष्टि या अव्रतिक अव्युत्पन्न श्रोता को लक्ष्य करके जो प्रवृत्त हो। इसमें 63 शलाका पुरुषों आदि का वर्णन किया गया है। पूर्वगत के चौदह भेद हैं, जिनके नाम का वर्णन आगे करेंगे। चूलिका के पाँच भेद हैं– जलगता, स्थगलता, मायागता, आकाशगता और रूपगता। अब इनके पदों का प्रमाण क्रम से बताते हैं।

पाँचों भेद सहित इस बारहवें अंग में एक अरब आठ करोड़ अड़सठ लाख छप्पन हजार पाँच पद (1086856005) होते हैं।

चौदह पूर्व के नाम –

उप्पायपुव्वगाणियविरियपवादत्थिणत्थियपवादे।
णाणासच्चपवादे आदाकम्मप्पवादे य।।108।।

उत्पादपूर्वाग्रायणीयवीर्यप्रवादास्तिनास्तिकप्रवादानि।
ज्ञानसत्यप्रवादे आत्मकर्मप्रवादे च।।108।।

पच्चक्खाणे विज्जाणुवादकल्लाणपाणवादे य।
किरियाविसालपुव्वे कमसोथ तिलोयविंदुसारे य।109।।

प्रत्याख्यानं वीर्यानुवादकल्याणाप्राणवादानि च।
क्रियाविशालपूर्वं क्रमशः अथ त्रिलोकविन्दुसारं च।।109।।

अर्थ–उत्पादपूर्व, आग्रायणीयपूर्व, वीर्यप्रवाद, अस्तिनास्तिप्रवाद, ज्ञानप्रवाद, सत्यप्रवाद, आत्मप्रवाद, कर्मप्रवाद, प्रत्याख्यान, वीर्यानुवाद, कल्याणवाद, प्राणावाद, क्रियाविशाल, त्रिलोकबिन्दुसार, इस तरह ये क्रम से पूर्वज्ञान के चौदह भेद हैं।

द्वादशांग के समस्त पदों की संख्या बताते हैं–

बारुत्तरसयकोडी, तेसीदी तहय होंति लक्खाणं।
अट्ठावण्णसहस्सा, पंचेव पदाणि अंगाणं।।110।।

द्वादशोत्तरशतकोट्यः त्र्यशीतिस्तथा भवन्ति लक्षाणाम्।
अष्टापंचाशत्सहस्राणि पंचैव पदानि अङ्गानाम्।।110।।

अर्थ—द्वादशांग के समस्त पद एक सौ बारह करोड़ त्र्यासी लाख अट्ठावन हजार पाँच (1128358005) होते हैं।

भावार्थ—एक पद में सोलह सौ चौंतीस करोड़, तिरासी लाख, सात हजार आठ सौ अठासी (16348307888) अक्षर होते हैं। ऐसे द्वादशांग के पदों का प्रमाण कहा है। अंगबाह्य में एक भी पद न होने से अक्षरों की संख्या बताई है।

अंगबाह्य अक्षर कितने हैं, उनका प्रमाण बताते हैं—

अडकोडिएयलक्खा अट्ठसहस्सा य एयसदिगं च।
पण्णत्तरि वण्णाओ, पइण्णयाणं पमाणं तु।।111।।

अष्टकोट्येकलक्षाणि अष्टसहस्राणि च एकशतकं च।
पंचसप्ततिः वर्णाः प्रकीर्णकानां प्रमाणं तु।।111।।

अर्थ—आठ करोड़ एक लाख आठ हजार एक सौ पचहत्तर (80108175) प्रकीर्णक (अंगबाह्य) अक्षरों का प्रमाण है अर्थात् एक पद में ये अक्षर बहुत कम हैं अतः इनका पद नहीं बना है।

अंगबाह्य श्रुत के भेद

सामइयचउवीसत्थयं तदो वन्दणा पडिक्कमणं।
वेणइयं किदियम्मं दसवेयालं च उत्तरज्झयणं।।112।।

सामायिकं चतुर्विंशस्तवं ततो वंदना प्रतिक्रमणम्।
वैनयिकं कृतिकर्म दशवैकालिकं च उत्तराध्ययनम्।।112।।

कप्पववहारकप्पाकप्पियमहकप्पियं च पुंडरियं।
महपुंडरीयणिसिहियमिदि चोद्दसमंगबाहिरयं।।113।।

कल्प्यव्यवहार-कल्पाकल्प्यिक-महाकल्प्यं च पुंडरीकम्।
महापुंडरीकं निषिद्धिका इति चतुर्दशांगबाह्यम्।।113।।

अर्थ—सामायिक, चतुर्विंशस्तव, वंदना, प्रतिक्रमण, वैनयिक, कृतिकर्म, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्पव्यवहार, कल्पाकल्प्य, महाकल्प, पुंडरीक, महापुंडरीक, निषिद्धिका ये अंगबाह्यश्रुत के चौदह भेद हैं।

श्रुतज्ञान का माहात्म्य

सुदकेवलं च णाणं, दोण्णि वि सरिसाणि होंति बोहादो।
सुदणाणं तु परोक्खं, पच्चक्खं केवलं णाणं।।114।।

श्रुतं केवलं च ज्ञानं द्वेऽपि सदृशे भवतो बोधात्।
श्रुतज्ञानं तु परोक्षं प्रत्यक्षं केवलं ज्ञानम्।।114।।

अर्थ—ज्ञान की अपेक्षा श्रुतज्ञान तथा केवलज्ञान दोनों ही सदृश हैं परन्तु दोनों में अंतर यही है कि श्रुतज्ञान परोक्ष है और केवलज्ञान प्रत्यक्ष है।

भावार्थ—जिस तरह श्रुतज्ञान सम्पूर्ण द्रव्य और पर्यायों को जानता है उस ही तरह केवलज्ञान भी सम्पूर्ण द्रव्य और पर्यायों को जानता है। विशेषता इतनी ही है कि श्रुतज्ञान इंद्रिय और मन की सहायता से होता है इसलिये परोक्ष—अविशद अस्पष्ट है। इसकी अमूर्त पदार्थों में और उनकी अर्थपर्यायों तथा दूसरे सूक्ष्म अंशों में स्पष्टरूप से प्रवृत्ति नहीं होती किन्तु केवलज्ञान निरावरण होने के कारण समस्त पदार्थों और उनके सम्पूर्ण गुणों तथा पर्यायों को स्पष्टरूप से विषय करता है।

अवधिज्ञान का स्वरूप

अवहीयदित्ति ओही, सीमाणाणेत्ति वण्णियं समये।
भवगुणपच्चयविहियं, जमोहिणाणेत्ति णं बेंति।।115।।

अवधीयत इत्यवधिः सीमाज्ञानमिति वर्णितं समये।
भवगुणप्रत्ययविधिकं यदवधिज्ञानमिति इदं ब्रुवन्ति।।115।।

अर्थ—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से जिसके विषय की सीमा हो उसको अवधिज्ञान कहते हैं। इस ही लिये परमागम में इसको सीमाज्ञान कहा है तथा इसके जिनेन्द्रदेव ने दो भेद कहे हैं—एक भवप्रत्यय दूसरा गुणप्रत्यय।

भावार्थ—नारकादि भव की अपेक्षा से अवधिज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होकर जो अवधिज्ञान हो उसको भवप्रत्यय अवधि कहते हैं। जो सम्यग्दर्शनादि कारणों की अपेक्षा से अवधिज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होकर अवधिज्ञान होता है उसको गुणप्रत्यय अवधि कहते हैं। इसके विषय

के परिमित होने से इस ज्ञान को अवधिज्ञान अथवा सीमाज्ञान कहते हैं। यद्यपि दूसरे मतिज्ञानादि के विषय की भी सामान्य से सीमा है इसलिये दूसरे ज्ञानों को भी अवधिज्ञान कहना चाहिए, तथापि समभिरूढनय की अपेक्षा से ज्ञानविशेष को ही अवधिज्ञान कहते हैं।

दोनों प्रकार के अवधिज्ञान के स्वामी

भवपच्चइगो सुरणिरयाणं तित्थे वि सव्वअंगुत्थो।
गुणपच्चइगो णरतिरियाणं संखादिचिण्हभवो।।116।।

भवप्रत्ययकं सुरनारकाणां तीर्थेपि सर्वांगोत्थम्।
गुणप्रत्ययकं नरतिरश्चां शंखादिचिन्हभवम्।116।।

अर्थ—भवप्रत्यय अवधिज्ञान देव, नारकी तथा तीर्थंकरों के भी होता है और यह ज्ञान सम्पूर्ण अंग से उत्पन्न होता है। गुणप्रत्यय अवधिज्ञान पर्याप्त मनुष्य तथा संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंचों के भी होता है और यह ज्ञान शंखादि चिन्हों से होताै।ह

भावार्थ—नाभि के ऊपर शंख, पद्म, वज्र, स्वस्तिक, कलश आदि जो शुभ चिन्ह होते हैं, उस जगह के आत्मप्रदेशों से प्रगट होने वाले अवधिज्ञानावरण तथा वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से गुणप्रत्यय अवधिज्ञान होता है किन्तु भवप्रत्यय अवधिज्ञान सम्पूर्ण आत्मप्रदेशों से प्रगट होता है। भवप्रत्यय अवधिज्ञान सभी देव और नारकियों के होता है क्योंकि उसमें भव प्रधान कारण है। गुणप्रत्यय अवधिज्ञान मनुष्य, तिर्यंचों के ही होता है परन्तु सबके नहीं होता क्योंकि इसके होने में मुख्य कारण गुण हैं।

मनःपर्ययज्ञान का स्वरूप

चिंतियमचिंतियं वा, अद्धं चिंतियमणेयभेयगयं।
मणपज्जवं ति उच्चइ, जं जाणइ तं खु णरलोए।।117।।

चिन्तितमचिन्तितं वा अर्धं चिन्तितमनेकभेदगतम्।
मनःपर्यय इत्युच्यते यज्जानाति तत्खलु नरलोके।।117।।

अर्थ—जिसका भूतकाल में चिंतवन किया हो अथवा जिसका भविष्यत्काल में चिंतवन किया जाएगा अथवा अर्धचिन्तित—वर्तमान में

जिसका चिंतवन किया जा रहा है, इत्यादि अनेक भेद स्वरूप दूसरे के मन में स्थित पदार्थ जिसके द्वारा जाना जाय उस ज्ञान को मनःपर्यय कहते हैं। यह मनःपर्यय ज्ञान मनुष्य क्षेत्र में ही उत्पन्न होता है, बाहर नहीं।

भावार्थ—निरुक्ति के अनुसार दूसरे के मन में स्थित पदार्थ को मन कहते हैं। इस तरह के मन को जो पर्येति अर्थात् जानता है—मन के अवलम्बन से त्रिकालविषयक पदार्थों—चिंतित, चिन्त्यमान, चिन्तिष्यमान विषय को जानता है उसको मनःपर्यय ज्ञान कहते हैं।

केवलज्ञान का स्वरूप

संपुण्णं तु समग्गं, केवलमसवत्त सव्वभावगयं।
लोयालोयवितिमिरं, केवलणाणं मुणेदव्वं।।118।।

सम्पूर्णं तु समग्रं केवलमसपत्नं सर्वभावगतम्।
लोकालोकवितिमिरं केवलज्ञानं मन्तव्यम्।।118।।

अर्थ—यह केवलज्ञान सम्पूर्ण, समग्र, केवल, प्रतिपक्षरहित, सर्वपदार्थगत और लोकालोक में अंधकार रहित होता है।

भावार्थ—यह ज्ञान समस्त पदार्थों को विषय करने वाला है और लोकालोक के विषय में आवरण रहित है तथा जीवद्रव्य की ज्ञानशक्ति के जितने अंश हैं वे यहाँ पर सम्पूर्ण व्यक्त हो गये हैं इसलिये उसको (केवलज्ञान को) सम्पूर्ण कहते हैं। मोहनीय और वीर्यान्तराय का सर्वथा क्षय हो जाने के कारण वह अप्रतिहत शक्तियुक्त है और निश्चल है अतएव उसको समग्र कहते हैं। इंद्रियों की सहायता की अपेक्षा नहीं रखता इसलिये केवल कहते हैं। चारों घाति कर्मों के सर्वथा क्षय से उत्पन्न होने के कारण वह क्रम करण और व्यवधान से रहित है फलतः युगपत् और समस्त पदार्थों के ग्रहण करने में उसका कोई बाधक नहीं है इसलिये उसको असपत्न (प्रतिपक्षरहित) कहते हैं।

ज्ञान मार्गणासार

जिसके द्वारा जीव त्रिकालविषयक भूत, भविष्यत्, वर्तमान संबंधी समस्त द्रव्य और उनके गुण तथा उनकी अनेक पर्यायों को जाने उसको ज्ञान कहते हैं।

ज्ञान के पाँच भेद हैं—मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय तथा केवल।

इनमें से आदि के चार ज्ञान क्षायोपशमिक और केवलज्ञान क्षायिक है तथा मति, श्रुत दो ज्ञान परोक्ष और शेष तीन प्रत्यक्ष हैं।

आदि के तीन ज्ञान मिथ्या भी होते हैं।

मति अज्ञान—दूसरे के उपदेश के बिना ही विष, यन्त्र, कूट, पंजर तथा बंध आदि के विषय में जो बुद्धि प्रवृत्त होती है उसको मति अज्ञान कहते हैं।

श्रुत अज्ञान—चोर शास्त्र, हिंसा शास्त्र, भारत, रामायण आदि परमार्थ-शून्य शास्त्र और उनका उपदेश कुश्रुतज्ञान है।

विभंग ज्ञान—विपरीत अवधिज्ञान को विभंगज्ञान या कुअवधि ज्ञान कहते हैं।

मतिज्ञान—इंद्रिय और मन के द्वारा होने वाला ज्ञान मतिज्ञान है। उसके अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा ये चार भेद हैं। इनको पाँच इंद्रिय और मन से गुणा करके बहु आदि बारह भेदों से गुणा कर देने से 288 भेद होते हैं तथा व्यंजनावग्रह को चक्षु और मन बिना चार इंद्रिय से और बहु आदि बारह भेद से गुणा करने से 48 ऐसे 288+48=336 भेद होते हैं।

श्रुतज्ञान—मतिज्ञान के विषयभूत पदार्थ से भिन्न पदार्थ का ज्ञान श्रुतज्ञान है।

इस श्रुतज्ञान के अक्षरात्मक, अनक्षरात्मक अथवा शब्दजन्य और लिंगजन्य ऐसे दो भेद हैं। इनमें शब्दजन्य श्रुतज्ञान मुख्य हैं।

दूसरी तरह से श्रुतज्ञान के भेद हैं—पर्याय, पर्याय समास, अक्षर, अक्षर समास, पद, पद समास, संघात, संघात समास, प्रतिपत्तिक, प्रतिपत्तिक समास, अनुयोग, अनुयोग समास, प्राभृत प्राभृत, प्राभृत प्राभृत समास, प्राभृत, प्राभृत समास, वस्तु, वस्तु समास, पूर्व, पूर्व समास इस तरह श्रुतज्ञान के बीस भेद हैं।

प्रश्न—पर्याय ज्ञान किसे कहते हैं ?

उत्तर—सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक के जो सबसे जघन्य ज्ञान होता है उसको पर्याय ज्ञान कहते हैं। इनको ढकने वाले आवरण कर्म का फल इस ज्ञान में नहीं होता अन्यथा ज्ञानोपयोग का अभाव होकर जीव का ही अभाव हो जावेगा। वह हमेशा प्रकाशमान, निरावरण रहता है अर्थात्

इतना ज्ञान का अंश सदैव प्रगट रहता है।

इसके आगे पर्यायसमास के बाद अक्षर ज्ञान आता है यह अर्थाक्षर सम्पूर्ण श्रुत केवल रूप है। इसमें एक कम एकट्ठी का भाग देने से जो लब्ध आया उतना ही अर्थाक्षर ज्ञान का प्रमाण है।

प्रश्न—श्रुत निबद्ध विषय कितना है ?

उत्तर—जो केवलज्ञान से जाने जाएँ किन्तु जिनका वचन से कथन न हो सके ऐसे पदार्थ अनंतानंत हैं। उनके अनंतवें भाग प्रमाण पदार्थ वचन से कहे जा सकते हैं, उन्हें प्रज्ञापनीय भाव कहते हैं। जितने प्रज्ञापनीय पदार्थ हैं उनका भी अनंतवां भाग श्रुत निरूपित है।

अक्षर ज्ञान के ऊपर वृद्धि होते-होते अक्षर समास, पद, पद समास आदि बीस भेद तक पूर्ण होते हैं। इनमें जो उन्नीसवां "पूर्व" भेद है उसी के उत्पाद पूर्व आदि चौदह भेद होते हैं।

इन बीस भेदों में प्रथम के पर्याय, पर्याय समास ये दो ज्ञान अनक्षरात्मक हैं और अक्षर से लेकर अठारह भेद तक ज्ञान अक्षरात्मक हैं। ये अठारह भेद द्रव्य श्रुत के हैं। श्रुतज्ञान के दो भेद हैं—द्रव्यश्रुत और भाव श्रुत। उसमें शब्दरूप और ग्रंथरूप द्रव्यश्रुत हैं और ज्ञानरूप सभी भावश्रुत हैं।

ग्रंथरूप श्रुत की विवक्षा से आचारांग आदि द्वादश अंग और उत्पाद पूर्व आदि चौदह पूर्व रूप भेद होते हैं अथवा अंग बाह्य और अंग प्रविष्ट में दो भेद करने से अंग प्रविष्ट के बारह और अंग बाह्य के सामायिक आदि चौदह प्रकीर्णक होते हैं।

द्वादशांग के नाम—आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, व्याख्या-प्रज्ञप्ति, धर्मकथांग, उपासकाध्ययनांग, अंतःकृद्दशांग, अनुत्तरोपपादिकदशांग, प्रश्नव्याकरण, विपाकसूत्र और दृष्टिवादांग ऐसे बारह अंग हैं।

बारहवें दृष्टिवाद के पाँच भेद हैं—परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत, चूलिका। परिकर्म के पाँच भेद हैं—चंद्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, द्वीपसागरप्रज्ञप्ति और व्याख्याप्रज्ञप्ति। सूत्र और प्रथमानुयोग में भेद नहीं हैं। पूर्वगत के चौदह भेद हैं। चूलिका के पाँच भेद हैं—जलगता, स्थलगता,

मायागता, आकाशगता, रूपगता।

चौदह पूर्वों के नाम—उत्पादपूर्व, अग्रायणीय, वीर्यप्रवाद, अस्ति-नास्तिप्रवाद, ज्ञानप्रवाद, सत्यप्रवाद, आत्मप्रवाद, कर्मप्रवाद, प्रत्याख्यान, विद्यानुवाद, कल्याणवाद, प्राणवाद, क्रियाविशाल और लोकबिन्दुसार ये चौदह भेद हैं।

द्वादशांग के समस्त पद एक सौ बारह करोड़, तिरासी लाख, अट्ठावन हजार पाँच होते हैं। 1,12,83,58,005 हैं।

अंग बाह्यश्रुत के भेद—सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वंदना, प्रतिक्रमण, वैनयिक, कृतिकर्म, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्पव्यवहार, कल्पाकल्प्य, महाकल्प्य, पुंडरीक, महापुंडरीक, निषिद्धिका ये अंग बाह्यश्रुत के चौदह भेद हैं।

"ज्ञान[1] की अपेक्षा श्रुतज्ञान तथा केवलज्ञान दोनों ही सदृश हैं। दोनों में अंतर यही है श्रुतज्ञान परोक्ष है और केवलज्ञान प्रत्यक्ष है।"

अवधिज्ञान—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से जिसका विषय सीमित हो वह अवधिज्ञान है। उसके भव प्रत्यय, गुण प्रत्यय यह दो भेद हैं। प्रथम भवप्रत्यय देव नारकी और तीर्थंकरों के होता है तथा द्वितीय गुण-प्रत्यय मनुष्य और तिर्यंचों के भी हो सकता है।

मनःपर्यय ज्ञान—चिंतित, अचिंतित और अर्धचिंतित इत्यादि अनेक भेद रूप दूसरे के मन में स्थित पदार्थ को मनःपर्यय ज्ञान जान लेता है। यह ज्ञान वृद्धिंगत चारित्र वाले किन्हीं महामुनि के ही होता है। इसके ऋजुमतिविपुलमति नाम के दो भेद हैं। यह ज्ञान मनुष्य क्षेत्र में ही उत्पन्न होता है, बाहर नहीं।

केवलज्ञान—यह ज्ञान सम्पूर्ण, समग्र, केवल, सम्पूर्ण द्रव्य की त्रैकालिक सम्पूर्ण पर्यायों को विषय करने वाला युगपत् लोकालोक प्रकाशी होता है। इस ज्ञान को प्राप्त करने के लिये ही सारे पुरुषार्थ किये जाते हैं।

(आज मति, श्रुत ये दो ही ज्ञान हम और आपको हैं। इनमें भी श्रुतज्ञान

1. सुदकेवलं च णाणं, दोण्णि वि सरिसाणि होंति बोहादो।
   सुदणाणं तु परोक्खं, पच्चक्खं केवलं णाणं।।369।। गोम्मटसार।।

में द्वादशांग का वर्तमान में अभाव हो चुका है। हाँ, मात्र बारहवें अंग में किंचित् अंश रूप से षट्खंडागम ग्रंथराज विद्यमान है तथा आज जितने भी शास्त्र हैं वे सब उस द्वादशांग के अंशभूत होने से उसी के सार रूप हैं। जैसे कि गंगानदी का जल एक कटोरी में निकालने पर भी वह गंगा जल ही है। अतः श्री कुंदकुंददेव आदि सभी के वचन सर्वज्ञतुल्य प्रमाणभूत[1] हैं। ऐसा समझकर द्वादशांग की पूजा करते हुए उपलब्ध श्रुत का पूर्णतया आदर, श्रद्धान और अभ्यास करके, तदनुकूल प्रवृत्ति करके संसार की स्थिति को कम कर लेना चाहिए।)

1. हमारे यहाँ आर्ष परम्परा का विच्छेद नहीं है, जिसका अरिहंत परमेष्ठी ने अर्थ रूप से व्याख्यान किया है और जिसे चार ज्ञानधारी गणधर ने धारण किया, जो ज्ञान विज्ञान संपन्न गुरु परम्परा से चला आ रहा है।.....
   अतः आधुनिक आगम भी प्रमाण है। (षट्खं. धवला टीका, पृ. 198)

(तेरहवाँ अधिकार)

13. संयममार्गणा

संयम का स्वरूप

वदसमिदिकसायाणं, दंडाण तहिंदियाण पंचण्हं।
धारणपालणणिग्गहचागजओ संजमो भणिओ।।119।।

व्रतसमितिकषायाणां दण्डानां तथेन्द्रियाणां पंचानाम्।
धारणपालननिग्रहत्यागजयः संयमो भणितः।।119।।

अर्थ—अहिंसा, अचौर्य, सत्य, शील (ब्रह्मचर्य), अपरिग्रह इन पाँच महाव्रतों का धारण करना, ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण, उत्सर्ग इन पाँच समितियों का पालना, क्रोधादि चार प्रकार की कषायों का निग्रह करना, मन, वचन, कायरूप दण्ड का त्याग तथा पाँच इंद्रियों का जय इसको संयम कहते हैं। अतएव संयम के पाँच भेद हैं।

सामायिक का स्वरूप

संगहिय सयलसंजममेयजममणुत्तरं दुरवगम्मं।
जीवो समुव्वहन्तो, सामाइयसंजमो होदि।।120।।

संगृह्य सकलसंयममेकयममनुत्तरं दुरवगम्यम्।
जीवः समुद्वहन् सामायिकसंयमो भवति।।120।।

अर्थ—उक्त व्रतधारण आदिक पाँच प्रकार के संयम में संग्रह नय की अपेक्षा से एकयम—भेद रहित होकर अर्थात् अभेद रूप से "मैं सर्व सावद्य का त्यागी हूँ" इस तरह से जो सम्पूर्ण सावद्य का त्याग करना इसको सामायिक संयम कहते हैं। यह संयम अनुपम है, दुर्लभ है और दुर्धर्ष है। इसके पालन करने वाले को सामायिक संयमी कहते हैं।

छेदोपस्थापना संयम का स्वरूप

छेत्तूण य परियायं, पोराणं जो ठवेइ अप्पाणं।
पंचजमे धम्मे सो, छेदोवट्ठावगो जीवो।।121।।

छित्वा च पर्यायं पुराणं यः स्थापयति आत्मानम्।
पंचयमे धर्मे सः छेदोपस्थापको जीवः।।121।।

अर्थ—प्रमाद के निमित्त से सामायिकादि से च्युत होकर जो सावद्य क्रिया के करने रूप सावद्य पर्याय होती है उसका प्रायश्चित्त विधि के अनुसार छेदन करके जो जीव अपनी आत्मा को व्रतधारणादिक पाँच प्रकार के संयमरूप धर्म में स्थापन करता है उसको छेदोपस्थापनसंयमी कहते हैं।

परिहारविशुद्धि संयमी का स्वरूप

पंचसमिदो तिगुत्तो, परिहरइ सदा वि जो हु सावज्जं।
पंचेक्कजमो पुरिसो, परिहारयसंजदो सो हु।।122।।

पंचसमितः त्रिगुप्तः परिहरति सदापि यो हि सावद्यम्।
पंचैकयमः पुरुषः परिहारकसंयतः स हि।।122।।

अर्थ—पाँच प्रकार के संयमियों में से सामान्य—अभेदरूप से अथवा विशेष—भेदरूप से सर्व-सावद्य का सर्वथा परित्याग करने वाला जो जीव पाँच समिति और तीन गुप्ति को धारण कर उनसे युक्त रहकर सदा सावद्य का त्याग करता है उस पुरुष को परिहारविशुद्धि संयमी कहते हैं अर्थात् जो इस तरह से सावद्य से सदा दूर रहता है वह जीव पाँच प्रकार के संयमियों में तीसरे परिहारविशुद्धिसंयम का धारक माना जाता है।

सूक्ष्मसांपराय संयम का स्वरूप

अणुलोहं वेदन्तो, जीवो उवसामगो व खवगो वा।
सो सुहुमसांपराओ, जहखादेणूणओ किंचि।।123।।

अणुलोभं विदन् जीवः उपशामको वा क्षपको वा।
स सूक्ष्मसाम्परायः यथाख्यातेनोनः किंचित्।।123।।

अर्थ—जिस उपशम श्रेणी वाले अथवा क्षपक श्रेणी वाले जीव के अणुमात्र लोभ—सूक्ष्मकृष्टि को प्राप्त लोभकषाय के उदय का अनुभव होता है उसको सूक्ष्मसांपरायसंयमी कहते हैं इसके परिणाम यथाख्यात चारित्र वाले जीव के परिणामों से कुछ ही कम होते हैं क्योंकि यह संयम दशवें गुणस्थान में होता है और यथाख्यात संयम ग्यारहवें से शुरू होता है।

यथाख्यात संयम का स्वरूप

उवसंते खीणे वा, असुहे कम्मम्मि मोहणीयम्मि।
छदुमट्ठो व जिणो वा, जहखादो संजदो सो दु।।124।।

उपशान्ते क्षीणे वा अशुभे कर्मणि मोहनीये।
छद्मस्थो वा जिनो वा यथाख्यातः संयतः स तु।।124।।

अर्थ—अशुभरूप मोहनीय कर्म के सर्वथा उपशम हो जाने से ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती जीवों के और सर्वथा क्षीण हो जाने से बारहवें गुणस्थानवर्ती जीवों के तथा तेरहवें, चौदहवें गुणस्थान वाले जीवों के यथाख्यात संयम होता है।

भावार्थ—यथावस्थित आत्मस्वभाव की उपलब्धि को यथाख्यात संयम कहते हैं। यह संयम ग्यारहवें से लेकर चौदहवें तक चार गुणस्थानों में होता है। ग्यारहवें में चारित्र मोहनीय कर्म के उपशम से और ऊपर के तीन गुणस्थानों में क्षय से यह होता है। इस तरह से यह संयम छद्मस्थ और जिन दोनों ही प्रकार के जीवों के पाया जाता है। क्षायोपशमिक ज्ञानी को छद्मस्थ और क्षायिक ज्ञानी को जिन कहते हैं।

देशविरत संयम का स्वरूप

दंसणवयसामाइय, पोसहसच्चित्तरायभत्ते य।
बम्हारंभपरिग्गह, अणुमणमुद्दिट्ठदेसविरदेदे।।125।।

दर्शनव्रतसामायिकाः प्रोषधसचित्तरात्रिभक्ताश्च।
ब्रह्मारम्भपरिग्रहानुमतोदिदष्टदेशविरता एते।।125।।

अर्थ—दार्शनिक, व्रतिक, सामायिक, प्रोषधोपवासी, सचित्तविरत, रात्रिभुक्तिविरत, ब्रह्मचारी, आरम्भविरत, परिग्रहविरत, अनुमतिविरत, उद्दिष्टविरत ये देशविरत (पाँचवें गुणस्थान) के ग्यारह भेद हैं।

भावार्थ—नाम के एकदेश से पूर्ण नाम का बोध हो जाता है, इस नियम के अनुसार यद्यपि गाथा में ग्यारह प्रतिमाओं के नाम का एकदेश मात्र ही लिखा है परन्तु उससे पूर्ण नाम ग्रहण कर लेना चाहिए।

असंयत का स्वरूप

जीवा चोद्दसभेया, इंदियविसया तहट्ठबीसं तु।
जे तेसु णेव विरया, असंजदा ते मुणेदव्वा।।126।।

जीवाश्चतुर्दशभेदा इंद्रियविषयाः तथाष्टाविंशतिस्तु।
ये तेषु नैव विरता असंयताः ते मन्तव्याः।।126।।

अर्थ—चौदह प्रकार के जीव समास और अट्ठाईस प्रकार के इंद्रियों के विषय इनसे जो विरक्त नहीं हैं उनको असंयत कहते हैं।

भावार्थ—चौदह जीव समासों के भेद पहले बता चुके हैं और इंद्रिय विषयों के अट्ठाईस भेद आगे की गाथा में बता रहे हैं। जो इनसे विरत हैं वे संयमी हैं। जो विरत नहीं हैं वे असंयमी हैं। संयम दो प्रकार का है—प्राणि संयम और इंद्रिय संयम। जीवों की रक्षा को प्राणि संयम और इंद्रिय विषयों के त्याग को इंद्रिय संयम कहते हैं। जो इस संयम से रहित हैं उनको असंयमी कहते हैं।

संयममार्गणा में जीवसंख्या बताते हैं–

पमदादिचउण्हजुदी, सामयियदुगं कमेण सेसतियं।
सत्तसहस्सा णवसय, णवलक्खा तीहिं परिहीणा।।127।।

प्रमत्तादिचतुर्णां युतिः सामायिकद्विकं क्रमेण शेषत्रिकम्।
सप्तसहस्राणि नव शतानि नव लक्षाणि त्रिभिः परिहीनानि।।127।।

अर्थ—प्रमत्तादि चार गुणस्थानवर्ती जीवों का जितना प्रमाण है उतने सामायिकसंयमी होते हैं और उतने ही छेदोपस्थापनासंयमी होते हैं। परिहारविशुद्धि संयम वाले तीन कम सात हजार (6997), सूक्ष्मसांपराय संयम वाले तीन कम नौ सौ (897), यथाख्यात संयम वाले तीन कम नौ लाख (899997) होते हैं।

संयम मार्गणासार

संयममार्गणा का लक्षण—अहिंसादि पंचमहाव्रतों को धारण करना, पाँच समितियों का पालना, क्रोधादि चार कषायों का निग्रह करना, मन वचन, काय रूप दण्ड का त्याग तथा पाँच इंद्रियों का जय इसको संयम कहते हैं।

संयम के पाँच भेद हैं—सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि,

सूक्ष्मसांपराय और यथाख्यात। इसी में संयमासंयम और असंयम के मिलाने से संयममार्गणा के सात भेद हो जाते हैं।

प्रश्न—संयममार्गणा में देशसंयम और असंयम को क्यों लिया ?

उत्तर—उस उस मार्गणा में उसके प्रतिपक्षी को भी ले लिया जाता है अथवा जैसे—वन में आम्र की प्रधानता होने से आम्रवन कहलाता है किन्तु उसमें नींबू आदि के वृक्ष भी रहते हैं।

जो संयम की विरोधी नहीं है ऐसी संज्वलन बादर कषाय के उदय से आरंभ के तीन संयम होते हैं। सूक्ष्मसंज्वलन लोभ के उदय से सूक्ष्म सांपराय संयम और सम्पूर्ण मोहनीय कर्म के उपशम या क्षय से यथाख्यात संयम होता है। तीसरी प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से संयमासंयम और दूसरी अप्रत्याख्यानावरण के उदय से असंयम भाव होता है।

सामायिक—"मैं सर्व सावद्य का त्यागी हूँ" इस तरह अभेद रूप से जो सम्पूर्ण सावद्य का त्याग करता है वह अनुपम दुर्लभ सामायिक संयम का धारी है।

छेदोपस्थापना—प्रमाद के योग से सामायिकादि से च्युत होकर उसका विधिवत् छेदन करके अपनी आत्मा को पंच प्रकार के व्रतों में स्थापन करना।

परिहारविशुद्धि—जन्म से लेकर तीस वर्ष तक सुखी रहकर पुनः दीक्षा ग्रहण कर तीर्थंकर के पादमूल में आठ वर्ष तक प्रत्याख्यान नामक नवमें पूर्व का अध्ययन करने वाले मुनि के यह संयम प्रगट होता है। इससे वे मुनि तीन संध्याकाल को छोड़कर प्रतिदिन दो कोस गमन करते हैं। इस संयम में वर्षाकाल में विहार का निषेध नहीं है। इसमें प्राणी पीड़ा का परिहार—त्याग होने से विशुद्धि है अतः ये संयमी जीवराशि में विहार करते हुए भी जल से भिन्न कमलवत् हिंसा से अलिप्त रहते हैं।

सूक्ष्मसांपराय—सूक्ष्म लोभ के उदय से दसवें गुणस्थान में सूक्ष्म सांपराय संयम होता है।

यथाख्यात—मोहनीय कर्म के सर्वथा उपशम या क्षय से यह संयम होता है। ग्यारहवें में उपशम से होता है और बारहवें, तेरहवें, चौदहवें गुणस्थान में कषाय के क्षय से होता है।

संयमासंयम—जो सम्यग्दृष्टि पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत

ऐसे बारह व्रतों से युक्त हैं वे देशव्रती अथवा संयमासंयमी हैं। इस देशव्रत से भी जीवों के असंख्यातगुणी कर्मों की निर्जरा होती है।

इस देशव्रत में दर्शन प्रतिमा से लेकर उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा तक ग्यारह भेद भी होते हैं।

असंयम—चौदह प्रकार के जीवसमास और अट्ठाईस प्रकार के इंद्रियों से जो विरत नहीं हैं उनको असंयम कहते हैं। जीवसमास का पहले वर्णन हो चुका है। पाँच रस, पाँच वर्ण, दो गंध, आठ स्पर्श और षड्ज, ऋषभ, गांधार, मध्यम, पंचम, धैवत, निषाद ये सात स्वर तथा एक मन इस तरह इंद्रियों के अट्ठाईस विषय हैं अर्थात् संयम के प्राणिसंयम, इंद्रियसंयम की अपेक्षा दो भेद हैं। जीवसमास का प्राणिहिंसा से विरत होना प्राणिसंयम और इंद्रिय विषयों से विरत होना इंद्रियसंयम है। असंयम में दोनों प्रकार की विरति नहीं है।

संयमी जीवों की संख्या—छठे गुणस्थान से लेकर चौदहवें तक सब संयमी हैं। उन सबकी संख्या तीन कम नव करोड़ प्रमाण है अर्थात् एक साथ अधिक से अधिक इतने संयमी रह सकते हैं।

प्रमत्त गुणस्थानवर्ती जीव 5,93,98,206, अप्रमत्त वाले 2,96,99,103, उपशमश्रेणी वाले चारों गुणस्थानवर्ती 1,196, क्षपकश्रेणी वाले चारों गुणस्थानवर्ती 2,392, सयोगीजिन 8,98,502, अयोगीजिन 598 इन सबका जोड़ 8,99,99,997 है। इन सबको मैं हाथ जोड़कर सिर झुकाकर त्रिकरणशुद्धि- पूर्वक नमस्कार करता हूँ।

आज पंचमकाल में मिथ्यात्व से लेकर चतुर्थ गुणस्थान तक असंयमी, देशसंयमी तथा मुनि अवस्था में सामायिक, छेदोपस्थापना संयमधारी मुनि होते हैं और पंचम काल के अंत तक होते रहेंगे इसमें कोई संशय नहीं है, ऐसा श्री कुंदकुंद भगवान ने कहा है। ऐसा समझकर वर्तमान काल के मुनियों को भी भावलिंगी मानकर नमस्कार, भक्ति, आहारदान आदि करके अपने मनुष्य जीवन को सफल करना चाहिए। हाँ, यदि कोई साधु चारित्रभ्रष्ट हों तो उनका स्थितिकरण उपगूहन करना चाहिए अन्यथा उनकी उपेक्षा कर देना चाहिए, उनकी निंदा करके अपने सम्यक्त्व को मलिन नहीं करना चाहिए और स्वयं असंयत जीवन से निकलकर देशसंयत या मुनि बनना चाहिए।

---

1. प्रथम वर्ष के द्वितीय अंक में।

(चौदहवाँ अधिकार)

14. दर्शनमार्गणा

दर्शन का स्वरूप

जं सामण्णं गहणं, भावाणं णेव कट्टुमायारं।
अविसेसदूण अट्ठे, दंसणमिदि भण्णदे समये।।128।।

यत् सामान्यं ग्रहणं भावनां नैव कृत्वाकारम्।
अविशेष्यार्थान् दर्शनमिति भण्यते समये।।128।।

अर्थ—सामान्य—विशेषात्मक पदार्थ के विशेष अंश को ग्रहण न करके केवल सामान्य अंश का जो निर्विकल्परूप से ग्रहण होता है उसको परमागम में दर्शन कहते हैं।

भावार्थ—यद्यपि वस्तु सामान्य-विशेषात्मक है फिर भी उसमें आकार-भेद न करके जाति गुण क्रिया आकार प्रकार की विशेषता किए बिना ही जो स्व या पर का सत्तामात्र सामान्य ग्रहण होता है वही दर्शनोपयोग है।

चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन का स्वरूप

चक्खूण जं पयासइ, दिस्सइ तं चक्खुदंसणं वेंति।
सेसिंदियप्पयासो, णायव्वो सो अचक्खू त्तिं।।129।।

चक्षुषोः यत् प्रकाशते पश्यति तत् चक्षुर्दर्शनं ब्रुवन्ति।
शेषेन्द्रियप्रकाशो ज्ञातव्यः स अचक्षुरिति।।129।।

अर्थ—चक्षुरिन्द्रिय संबंधी जो सामान्य प्रकाश—आभास अथवा देखना, अथवा वह ग्रहण विषय का प्रकाशनमात्र जिसके द्वारा हो—जिसके द्वारा वह देखा जाय, यद्वा उसके कर्ता—देखने वाले को चक्षु दर्शन कहते हैं और चक्षु के सिवाय दूसरी चार इंद्रियों के द्वारा अथवा मन के द्वारा जो पदार्थ का सामान्यरूप से ग्रहण होता है उसको अचक्षु दर्शन कहते हैं।

अवधिदर्शन का स्वरूप

परमाणुआदियाइं, अन्तिमखंधं ति मुत्तिदव्वाई।
तं ओहिदंसणं पुण, जं पस्सइ ताइं पच्चक्खं।।130।।

परमाण्वादीनि अन्तिमस्कन्धमिति मूर्तद्रव्याणि।
तदवधिदर्शनं पुनः यत् पश्यति तानि प्रत्यक्षम्।।130।।

अर्थ—अवधिज्ञान होने के पूर्व समय में अवधि के विषयभूत परमाणु से लेकर महास्कन्धपर्यन्त मूर्तद्रव्य का जो सामान्यरूप से प्रत्यक्ष—देखना-ग्रहण-प्रकाश-अवभासन होता है। उसको अवधिदर्शन कहते हैं। इस अवधिदर्शन के अनंतर प्रत्यक्ष अवधिज्ञान होता है।

केवलदर्शन का स्वरूप

बहुविहबहुप्पयारा, उज्जोवा परिमियम्मि खेत्तम्मि।
लोगालोगवितिमिरो, जो केवलदंसणुज्जोओ।।131।।

बहुविधबहुप्रकारा उद्योताः परिमिते क्षेत्रे।
लोकालोकवितिमिरो यः केवलदर्शनोद्योतः।।131।।

अर्थ—तीव्र, मंद, मध्यम आदि अनेक अवस्थाओं की अपेक्षा तथा चंद्र-सूर्य आदि पदार्थों की अपेक्षा अनेक प्रकार के प्रकाश जगत में पाये जाते हैं परन्तु वे परिमित क्षेत्र में ही रहते और काम करते हैं किन्तु जो लोक और अलोक दोनों जगह प्रकाश करता है ऐसे आत्मा के सामान्य आभास रूप प्रकाश को केवलदर्शन कहते हैं।

भावार्थ—समस्त पदार्थों का जो सामान्य दर्शन होता है उसको केवलदर्शन कहते हैं।

दर्शन मार्गणासार

दर्शनोपयोग का लक्षण—प्रत्येक वस्तु सामान्य विशेषात्मक है फिर भी उसमें आकार भेद रूप विशेष अंश को ग्रहण करके जो स्व या पर का सत्तारूप सामान्य ग्रहण होता है उसे दर्शन कहते हैं।

उसके चार भेद हैं—चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन, केवलदर्शन।

चक्षुदर्शन—चक्षुइंद्रिय संबंधी जो सामान्य आभास होता है वह चक्षुदर्शन है।

अचक्षुदर्शन—चक्षु के सिवाय अन्य चार इंद्रियों के द्वारा या मन के द्वारा जो पदार्थ का सामान्य रूप से ग्रहण होता है वह अचक्षुदर्शन है।

अवधिदर्शन—अवधिज्ञान के पूर्व समय में अवधि के विषयभूत पदार्थों का जो सामान्यावलोकन है वह अवधिदर्शन है।

केवलदर्शन—जो लोक और अलोक दोनों जगह प्रकाश करता है ऐसे आत्मा के सामान्य आभास रूप प्रकाश को केवलदर्शन कहते हैं।

तीन इंद्रिय जीवों तक अचक्षुदर्शन ही होता है। चार इंद्रिय और पंचेन्द्रिय जीवों को दोनों दर्शन होते हैं। पंचेन्द्रिय सम्यग्दृष्टि को ही किन्हीं अवधिज्ञानी को अवधिदर्शन और केवली भगवान को ही केवलदर्शन होता है। संसारी जीवों के ज्ञान और दर्शन एक साथ नहीं होते हैं किन्तु केवली भगवान के दोनों एक साथ ही होते हैं।

अतः दर्शनमार्गणा को समझकर समस्त बाह्य संकल्प विकल्प को छोड़कर अंतर्मुख होकर निर्विकल्प समाधि में स्थिरता प्राप्त कर शुद्धात्मा का अवलोकन करना चाहिए।

(पन्द्रहवाँ अधिकार)

15. लेश्यामार्गणा

लेश्या का स्वरूप

लिंपइ अप्पीकीरइ, एदीए णियअपुण्णपुण्णं च।
जीवो त्ति होदि लेस्सा लेस्सागुणजाणयक्खादा।।132।।

लिंपत्यात्मीकरोति एतया निजापुण्यपुण्यं च।
जीव इति भवति लेश्या लेश्यागुणज्ञायकाख्याता।।132।।

अर्थ—लेश्या के गुण को—स्वरूप को जानने वाले गणधरादि देवों ने लेश्या का स्वरूप ऐसा कहा है कि जिसके द्वारा जीव अपने को पुण्य और पाप से लिप्त करे—पुण्य और पाप के अधीन करे उसको लेश्या कहते हैं।

भावार्थ—लेश्या दो प्रकार की है—द्रव्य लेश्या और भावलेश्या। द्रव्यलेश्या शरीर के वर्ण रूप और भावलेश्या जीव के परिणामस्वरूप है। यहाँ पर भावलेश्या को ही दृष्टि में रखकर यह निरुक्ति सिद्ध कहा गया है।

लेश्या के नाम

किण्हा णीला काऊ, तेऊ पम्मा य सुक्कलेस्सा य।
लेस्साणं णिद्देसा, छच्चेव हवंति णियमेण।।133।।

कृष्णा नीला कापोता तेजः पद्मा च शुक्ललेश्या च।
लेश्यानां निर्देशाः षट् चैव भवन्ति नियमेन।।133।।

अर्थ—लेश्याओं के नियम से ये छह ही निर्देश—संज्ञायें हैं—कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कापोतलेश्या, तेजोलेश्या (पीतलेश्या), पद्मलेश्या, शुक्ल लेश्या।

भावार्थ—इस गाथा में कहे हुए एव शब्द के द्वारा ही नियम अर्थसिद्ध हो जाने से पुनः शब्द का ग्रहण करना व्यर्थ ठहरता है। अतएव वह व्यर्थ ठहरकर ज्ञापन सिद्ध विशेष अर्थ को सूचित करता है कि लेश्या के यद्यपि सामान्यतया नैगम नय की अपेक्षा छह भेद ही हैं तथापि पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से लेश्याओं के असंख्यात लोक प्रमाण अवान्तर भेद होते हैं।

लेश्या के कार्य

पहिया जे छप्पुरिसा, परिभट्ठारण्णमज्झदेसम्हि।
फलभरियरूक्खमेगं, पेक्खित्ता ते विचिंतंति।।134।।

पथिका ये षट् पुरुषाः परिभ्रष्टा अरण्यमध्यदेशे।
फलभरितवृक्षमेकं प्रेक्षित्वा ते विचिन्तयन्ति।।134।।

णिम्मूलखंधसाहुवसाहं छित्तुं चिणित्तु पडिदाइं।
खाउं फलाइं इदि जं, मणेण वयणं हवे कम्मं।।135।।

निर्मूलस्कन्धशाखोपशाखं छित्वा चित्वा पतितानि।
खादितुं फलानि इति यन्मनसा वचनं भवेत् कर्म्म।।135।।

अर्थ—कृष्ण आदि छह लेश्या वाले कोई छह पथिक वन के मध्य में मार्ग से भ्रष्ट होकर फलों से पूर्ण किसी वृक्ष को देखकर अपने-अपने मन में इस प्रकार विचार करते हैं और उसके अनुसार वचन कहते हैं। कृष्णलेश्या वाला विचार करता है और कहता है कि मैं इस वृक्ष को मूल से उखाड़कर इसके फलों का भक्षण करूँगा। नीललेश्या वाला विचारता है और कहता है कि मैं इस वृक्ष को स्कन्ध से काटकर इसके फल खाऊँगा। कापोतलेश्या वाला विचारता है और कहता है कि मैं इस वृक्ष की बड़ी-बड़ी शाखाओं को काटकर इसके फलों को खाऊँगा। पीतलेश्या वाला विचारता है और कहता है कि मैं इस वृक्ष की छोटी-छोटी शाखाओं को काटकर इसके फलों को खाऊँगा। पद्मलेश्या वाला विचारता है और कहता है कि मैं इस वृक्ष के फलों को तोड़कर खाऊँगा तथा शुक्ललेश्या वाला विचारता है और कहता है कि मैं इस वृक्ष से स्वयं टूटकर पड़े हुए फलों को खाऊँगा। इस तरह जो मनःपूर्वक वचनादि की प्रवृत्ति होती है वह लेश्या का कर्म है। यहाँ पर यह एक दृष्टांत मात्र दिया गया है इसलिए इस ही तरह अन्यत्र भी समझना चाहिए।

कृष्णलेश्या का स्वरूप

चण्डो ण मुंचइ वेरं, भंडणसीलो य धरमदयरहिओ।
दुट्ठो ण य एदि वसं, लक्खणमेयं तु किण्हस्स।।136।।

चण्डो न मुंचति वैरं भण्डनशीलश्च धर्मदयारहितः।
दुष्टो न चैति वशं लक्षणमेतत्तु कृष्णस्य।।136।।

अर्थ—तीव्र क्रोध करने वाला हो, वैर को न छोड़े, युद्ध करने का (लड़ने का) जिसका स्वभाव हो, धर्म और दया से रहित हो, जो दुष्ट हो, किसी के भी वश न हो ये सब कृष्णलेश्या वाले के चिन्ह—लक्षण हैं।

नीललेश्या का स्वरूप

मन्दो बुद्धिविहीणो, णिव्विण्णाणी य विसयलोलो य।
माणी मायी य तहा, आलस्सो चेव भेज्जो य।।137।।

मन्दो बुद्धिविहीनो निर्विज्ञानी च विषयलोलश्च।
मानी मायी च तथा आलस्यश्चैव भेद्यश्च।।137।।

णिद्दावंचणबहुलो, धणधण्णे होदि तिव्वसण्णा य।
लक्खणमेयं भणियं, समासदो णीललेस्सस्स।।138।।

निद्रावंचनबहुलो धनधान्ये भवति तीव्रसंज्ञश्च।
लक्षणमेतद् भणितं समासतो नीललेश्यस्य।।138।।

अर्थ—काम करने में मंद हो अथवा स्वच्छन्द हो, वर्तमान कार्य करने में विवेक रहित हो, कला चातुर्य से रहित हो, स्पर्शनादि पाँच इंद्रियों के विषयों में लम्पट हो, मानी हो, मायाचारी हो, आलसी हो, दूसरे लोग जिसके अभिप्राय को सहसा न जान सकें तथा जो अति निद्रालु और दूसरों को ठगने में अतिदक्ष हो और धनधान्य के विषय में जिसकी अति तीव्र लालसा हो ये नीललेश्या वाले के संक्षेप से चिन्ह बताये हैं।

कापोत लेश्या का स्वरूप

रूसइ णिंदइ अण्णे, दूसइ बहुसो य सोयभयबहुलो।
असुयइ परिभवइ परं, पसंसये अप्पयं बहुसो।।139।।

रुष्यति निन्दति अन्यं दुष्यति बहुशश्च शोकभयबहुलः।
असूयति परिभवति परं प्रशंसति आत्मानं बहुशः।।139।।

णयपत्तियइ परं सो, अप्पाणं यिव परं पि मण्णंतो।
थूसइ अभित्थुवंतो, ण य जाणइ हाणि-वड्ढिं वा।।140।।

न च प्रत्येति परं स आत्मानमिव परमपि मन्यमानः।
तुष्यति अभिष्टुवतो न च जानाति हानिवृद्धी वा।।140।।

मरणं पत्थेइ रणे, देइ सुबहुगं वि थुव्वमाणो दु।
ण गणइ कज्जाकज्जं, लक्खणमेयं तु काउस्स।।141।।

मरणं प्रार्थयते रणे ददाति सुबहुकमपि स्तूयमानस्तु।
न गणयति कार्याकार्य लक्षणमेतत्तु कापोतस्य।।141।।

अर्थ—दूसरे के ऊपर क्रोध करना, दूसरे की निंदा करना, अनेक प्रकार से दूसरों को दुःख देना अथवा औरों से बैर करना, अधिकतर शोकाकुलित रहना या हो जाना, दूसरों के ऐश्वर्यादि को सहन न कर सकना, दूसरे का तिरस्कार करना, अपनी नाना प्रकार से प्रशंसा करना, दूसरे के ऊपर विश्वास न करना, अपने समान दूसरों को भी मानना, स्तुति करने वाले पर सन्तुष्ट हो जाना, अपनी हानि-वृद्धि को कुछ भी न समझना, रण में मरने की प्रार्थना करना, स्तुति करने वाले को खूब धन दे डालना, अपने कार्य-अकार्य की कुछ भी गणना न करना ये सब कापोतलेश्या वाले के चिन्ह हैं।

पीतलेश्या वाले के चिन्ह

जाणइ कज्जाकज्जं, सेयमसेयं च सव्वसमपासी।
दयदाणरदो य मिदू, लक्खणमेयं तु तेउस्स।।142।।

जानाति कार्याकार्यं सेव्यमसेव्यं च सर्वसमदर्शी।
दयादानरतश्च मृदुः लक्षणमेतत्तु तेजसः।।142।।

अर्थ—अपने कार्य-अकार्य, सेव्य-असेव्य को समझने वाला हो, सबके विषय में समदर्शी हो, दया और दान में तत्पर हो, मन, वचन, काय के विषय में कोमल परिणामी हो ये पीतलेश्या वाले के चिन्ह हैं।

पद्मलेश्या के लक्षण

चागी भद्दो चोक्खो, उज्जवकम्मो य खमदि बहुगं पि।
साहुगुरुपूजणरदो, लक्खणमेयं तु पम्मस्स।।143।।

त्यागी भद्रः सुकरः उद्युक्तकर्मा च क्षमते बहुकमपि।
साधुगुरुपूजनरतो लक्षणमेतत्तु पद्मस्य।।143।।

अर्थ—दान देने वाला हो, भद्र परिणामी हो, जिसका उत्तम कार्य करने का स्वभाव हो, कष्ट रूप तथा अनिष्ट रूप उपद्रवों को सहन करने वाला हो, मुनिजन, गुरुजन आदि की पूजा में प्रीतियुक्त हो ये सब पद्मलेश्या वाले के लक्षण हैं।

शुक्ललेश्या वाले के लक्षण

ण य कुणइ पक्खवायं, ण वि य णिदाणं समो य सव्वेसिं।
णत्थि य रायद्दोसा, णेहो वि य सुक्कलेस्सस्स।।144।।

न च करोति पक्षपातं नापि च निदानं समश्च सर्वेषाम्।
न स्तः च रागद्वेषी स्नेहीऽपि च शुक्ललेश्यस्य।।144।।

अर्थ—पक्षपात न करना, निदान को न बांधना, सब जीवों में समदर्शी होना, इष्ट से राग और अनिष्ट से द्वेष न करना, स्त्री, पुरुष, मित्र आदि में स्नेहरहित होना ये सब शुक्ललेश्या वाले के लक्षण हैं।

इस प्रकार सोलह अधिकारों के द्वारा लेश्याओं का वर्णन करके अब लेश्यारहित जीवों का वर्णन करते हैं–

किण्हादिलेस्सरहिया, संसारविणिग्गया अणंतसुहा।
सिद्धिपुरं संपत्ता, अलेस्सिया ते मुणेयव्वा।।145।।

कृष्णादिलेश्यारहिताः संसारविनिर्गता अनंतसुखाः।
सिद्धिपुरं संप्राप्ता अलेश्यास्ते ज्ञातव्याः।।145।।

अर्थ—जो कृष्ण आदि छहों लेश्याओं से रहित हैं, अतएव जो पंच परिवर्तनरूप संसारसमुद्र के पार को प्राप्त हो गये हैं तथा जो अतीन्द्रिय अनन्त सुख से तृप्त हैं, आत्मोपलब्धिरूप सिद्धिपुरी को जो प्राप्त हो गये हैं,

उन जीवों को अयोगकेवली या सिद्ध भगवान कहते हैं।

भावार्थ—जो अनन्त सुख को प्राप्तकर संसार से सर्वथा रहित होकर सिद्धिपुरी को प्राप्त हो गये हैं वे जीव सर्वथा लेश्याओं से रहित होते हैं, अतएव उनको अलेश्य–सिद्ध कहते हैं, क्योंकि लेश्याओं का संबंध कषाय और योग से है अतएव जहाँ तक कषायों के उदयस्थान और योगप्रवृत्ति पाई जाती है वहाँ तक लेश्याएँ भी मानी जाती हैं, इनके ऊपर चौदहवें गुणस्थान एवं सिद्ध अवस्था में इनका सर्वथा अभाव है, अतएव ये दोनों ही स्थान अलेश्य हैं।

लेश्या मार्गणासार

लेश्या का लक्षण—जो आत्मा को पुण्य पाप से लिप्त करे ऐसी कषायोदय से अनुरक्त योग (मन, वचन काय) की प्रवृत्ति लेश्या है।

लेश्या के दो भेद हैं—द्रव्यलेश्या, भावलेश्या। द्रव्यलेश्या शरीर के वर्णरूप है और भावलेश्या आत्मा के परिणामस्वरूप है। लेश्या के छह भेद हैं—कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म, शुक्ल। इनके अवांतर भेद असंख्यात लोक प्रमाण हैं।

द्रव्यलेश्या का वर्णन—वर्ण नामकर्म के उदय से जीव के शरीर का वर्ण द्रव्यलेश्या है। सम्पूर्ण नारकी कृष्ण वर्ण हैं। कल्पवासी देवों की द्रव्यलेश्या, भावलेश्या सदृश है। भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी, मनुष्य, तिर्यंच इनकी द्रव्य लेश्या छहों हैं। विक्रिया से रहित देवों के शरीर छहों वर्ण के हो सकते हैं। उत्तम भोगभूमियों–उत्तर कुरु के मनुष्य तिर्यंचों का वर्ण सूर्य के समान, मध्यम भोगभूमि–हरि-रम्यक् वालों का चंद्र के समान, जघन्य भोगभूमि–हैमवत-हैरण्यवत् वालों का हरित वर्ण है।

भावलेश्या का वर्णन—अशुभ तीन लेश्या में तीव्रतम, तीव्रतर और तीव्र ये तीन स्थान होते हैं। शुभ लेश्या में मंद, मन्दतर, मन्दतम ये तीन स्थान होते हैं।

कृष्णलेश्या—तीव्र क्रोधी, वैर न छोड़े, युद्धाभिलाषी, धर्मदया से शून्य, दुष्ट और किसी के वश में न होवे यह कृष्णलेश्या के लक्षण हैं।

नीललेश्या—काम करने में मंद हो, स्वच्छंद हो, विवेक, चतुरता रहित हो, इंद्रियलम्पट, मानी, मायाचारी, आलसी हो, गूढ़ अभिप्रायी, निद्रालु, वंचक, विषयों का लोलुपी हो ये सब नीललेश्या के लक्षण हैं।

कापोतलेश्या—दूसरे पर क्रोध करना, निंदा करना, दुःख देना, वैर करना, शोकाकुलित रहना, भयग्रस्त होना, दूसरों के ऐश्वर्यादि को न सह सकना, दूसरे का तिरस्कार करना, अपनी प्रशंसा करना, स्तुति में संतुष्ट होना आदि इस लेश्या के लक्षण हैं।

पीतलेश्या—अपने कार्य-अकार्य, सेव्य-असेव्य को समझना, सबके विषय में समदर्शी होना, दया और दान में तत्पर होना, मन वचन काय से कोमल परिणामी होना ये सब पीतलेश्या के चिन्ह हैं।

पद्मलेश्या—दान देने वाला हो, भद्र परिणामी, उत्तम कार्य करने का स्वभावी हो, कष्टरूप व अनिष्ट उपसर्गों का सहन करने वाला हो, मुनिजन, गुरुजन की पूजा में प्रीतियुक्त हो ये सब पद्मलेश्या के लक्षण हैं।

शुक्ललेश्या—पक्षपात न करना, निदान को न बाँधना, सब जीवों में समदर्शी होना, इष्ट से राग अनिष्ट से द्वेष न करना, स्त्री, पुत्र आदि में स्नेह रहित होना ये सब शुक्ललेश्या के लक्षण हैं।

किस लेश्या वाले के कैसे भाव होते हैं इसका दृष्टांत से स्पष्टीकरण—

कृष्णादि लेश्या वाले छह पथिक वन में मार्ग भूल जाने से एक फलों के भार से युक्त वृक्ष के पास जाकर इस प्रकार क्रिया करते हैं।

कृष्ण लेश्या वाला इस वृक्ष को जड़ से उखाड़कर फल खाने का इच्छुक होकर वृक्ष को जड़ से काटने लगा। नीललेश्या वाला वृक्ष के स्कंध को काटकर फल खाने का इच्छुक हो स्कंध काटने लगा। कापोतलेश्या वाला बड़ी-बड़ी शाखाओं को काटकर फल खाने लगा। पीतलेश्या वाला छोटी-छोटी शाखाओं को काटकर फल लेकर खाने लगा। पद्मलेश्या वाला फलों को वृक्ष से तोड़कर खाने लगा और शुक्ललेश्या वाला वृक्ष से स्वयं टूट कर पड़े हुए फलों को उठाकर खाने लगा। इस प्रकार से लेश्या के और भी उदाहरण समझना।

लेश्याओं का काल—सभी लेश्याओं का जघन्य काल अंतर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल तैंतीस सागर आदि है।

लेश्याओं के छब्बीस अंश और आयुबंध का अपकर्ष काल

छहों लेश्याओं के जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट भेद की अपेक्षा अठारह भेद होते हैं। इनमें आठ अपकर्षकाल संबंधी अंशों के मिलाने पर छब्बीस भेद हो जाते हैं। जैसे—किसी कर्मभूमिया मनुष्य की भुज्यमान[1] आयु का प्रमाण ''छह हजार पाँच सौ इकसठ'' वर्ष है। इसके तीन भाग में से दो भाग के बीतने पर और एक भाग शेष रहने पर, इस एक भाग के प्रथम समय से लेकर अंतर्मुहूर्त पर्यंत प्रथम अपकर्ष काल कहा गया है। इस अपकर्षकाल में परभव संबंधी आयु का बंध होता है। यदि यहाँ आयु न बंधी तो अवशिष्ट आयु के तीन भाग में से एक भाग शेष रहने पर दूसरा अपकर्ष काल आता है। यदि यहाँ भी आयु न बंधी तो शेष आयु के तीन भाग में से शेष एक भाग के रहने पर अपकर्षकाल आता है। यदि यहाँ भी न बंधी तो ऐसे ही चौथे, पाँचवें, छठे, सातवें, आठवें अपकर्ष में से परभव संबंधी आयु का बंध होता है। यदि इन आठ अपकर्ष कालों में से किसी में भी बंध न हुआ तो भुज्यमान आयु के अंतिम आवली के असंख्यातवें भाग प्रमाण काल से पूर्व के अन्तर्मुहूर्त में अवश्य ही आयु का बंध होता है यह नियम है। अगली आयु के बंध के बिना मरण असंभव है।

इन आठ अपकर्ष काल में से किसी में भी लेश्याओं के आठ मध्य-मांशों में से जो अंश होगा उसके अनुसार आयु का बंध होगा, अपकर्ष काल में होने वाले लेश्याओं के आठ मध्यम अंशों को छोड़कर बाकी के आठ अंश चारों गतियों के गमन के कारण होते हैं। यह सामान्य कथन है। शुक्ललेश्या के उत्कृष्ट अंश से संयुक्त जीव मरकर नियम से सर्वार्थसिद्धि को जाते हैं।

विशेष—कर्मभूमियाँ मनुष्य और तिर्यंच के लिये आयु के तीन भाग में से एक भाग शेष रहने पर ही आयु बंध के कारणभूत आठ अपकर्ष काल होते हैं। देव, नारकियों के आयु का छह महिना शेष रहने पर आठ अपकर्ष काल आते हैं। भोगभूमिया मनुष्य या तिर्यंच के आयु के नौ महीना शेष रहने

1. जिसका भोग कर रहे हैं जैसे ''मनुष्य के मनुष्यायु का उदय है।''

पर ये आठ अपकर्ष काल आते हैं। इस प्रकार लेश्याओं के ये आठ अंश आयु बंध के कारण कहे गये हैं।

सिद्ध भगवान द्रव्यभाव लेश्या से रहित हैं—

जो कृष्णादि छहों लेश्याओं से रहित हैं अतः पंचपरिवर्तनरूप संसार समुद्र के पार हो गये हैं, अतीन्द्रिय, अनंतसुख से तृप्त, आत्मोपलब्धि रूप सिद्धपुरी को पहुँच चुके हैं वे अयोगीकेवली या सिद्ध भगवान हैं।

लेश्याओं के प्रकरण को समझकर अशुभ लेश्या से बचकर शुभ लेश्या को धारण करते हुए लेश्यारहित शुद्धात्मा स्वरूप में स्थिर होने के लिये बार-बार प्रयत्न करना चाहिये। यह आत्मा वर्णादि से रहित शुद्ध परम स्वच्छ है। उसी का नित्य प्रति चिंतवन करना चाहिए।

(सोलहवाँ अधिकार)

16. भव्यत्व मार्गणा

भव्य और अभव्य का स्वरूप

भविया सिद्धी जेसिं, जीवाणं ते हवंति भवसिद्धा।
तव्विवरीयाऽभव्वा, संसारादो ण सिज्झंति।।146।।

भव्या सिद्धिर्येषां जीवानां ते भवन्ति भवसिद्धाः।
तद्विपरीता अभव्याः संसारान्न सिध्यन्ति।।146।।

अर्थ—जिन जीवों की अनंत चतुष्टयरूप सिद्धि होने वाली हो अथवा जो उसकी प्राप्ति के योग्य हों उनको भवसिद्ध कहते हैं। जिनमें इन दोनों में से कोई भी लक्षण घटित न हो उन जीवों को अभव्यसिद्ध कहते हैं।

भावार्थ–कितने ही भव्य ऐसे हैं जो मुक्ति प्राप्ति के योग्य हैं परन्तु कभी मुक्त न होंगे, जैसे—बन्ध्यापने के दोष से रहित विधवा सती स्त्री में पुत्रोत्पत्ति की योग्यता है परन्तु उसके कभी पुत्र उत्पन्न नहीं होगा। इसके सिवाय कोई भव्य ऐसे हैं जो नियम से मुक्त होंगे, जैसे—बन्ध्यापने के दोष से रहित स्त्री के निमित्त मिलने पर नियम से पुत्र उत्पन्न होगा। इस तरह योग्यता भेद के कारण भव्य दो प्रकार के हैं। इन दोनों योग्यताओं से जो रहित हैं उनको अभव्य कहते हैं। जैसे—बन्ध्या स्त्री के निमित्त मिले चाहे न मिले परन्तु पुत्र उत्पन्न नहीं हो सकता है।

भव्य का स्वरूप

भव्वत्तणस्स जोग्गा, जे जीवा ते हवंति भवसिद्धा।
ण हु मलविगमे णियमा, ताणं कणओवलाणमिव।।147।।

भव्यत्वस्य योग्या ये जीवास्ते भवन्ति भवसिद्धाः।
न हि मलविगमे नियमात् तेषां कनकोपलानामिव।।147।।

अर्थ—जो जीव अनंतचतुष्टयरूप सिद्धि की प्राप्ति के योग्य हैं उनको भवसिद्ध कहते हैं। किन्तु यह बात नहीं है कि इस प्रकार के जीवों का कर्ममल नियम से दूर होवे ही। जैसे—कनकोपलका।

भावार्थ—ऐसे भी बहुत से कनकोपल हैं जिनमें कि निमित्त मिलाने पर शुद्ध स्वर्णरूप होने की योग्यता तो है परन्तु उनकी इस योग्यता की अभिव्यक्ति कभी नहीं होगी अथवा जिस तरह अहमिन्द्र देवों में नरकादि में गमन करने की शक्ति है परन्तु उस शक्ति की अभिव्यक्ति कभी नहीं होती। इस ही तरह जिन जीवों में अनंत चतुष्टय को प्राप्त करने की योग्यता है परन्तु उनको वह कभी प्राप्त नहीं होगी उनको भी भवसिद्ध कहते हैं। ये जीव भव्य होते हुए भी सदा संसार में ही रहते हैं।

मुक्त जीव का स्वरूप

ण य जे भव्वाभव्वा, मुत्तिसुहाती दणंतसंसारा।
ते जीवा णायव्वा, णेव य भव्वा अभव्वा य।।148।।

न च ये भव्या अभव्या मुक्तिसुखा अतीतानन्तसंसाराः।
ते जीवा ज्ञातव्या नैव च भव्या अभव्याश्च।।148।।

अर्थ—जिनका पाँच परिवर्तन रूप अनंत संसार सर्वथा छूट गया है और इसीलिये जो मुक्तिसुख के भोक्ता हैं उन जीवों को न तो भव्य समझना और न अभव्य समझना चाहिए क्योंकि अब उनको कोई नवीन अवस्था प्राप्त करना शेष नहीं रही है इसलिये वे भव्य भी नहीं हैं और अनंत चतुष्टय को प्राप्त हो चुके हैं इसलिये अभव्य भी नहीं हैं।

भावार्थ—जिसमें अनंत चतुष्टय के अभिव्यक्त होने की योग्यता ही न हो उसको अभव्य कहते हैं अतः मुक्त जीव अभव्य भी नहीं हैं क्योंकि उन्होंने अनंत चतुष्टय को प्राप्त कर लिया है और "भवितुं योग्या भव्या" इस निरुक्ति के अनुसार भव्य उनको कहते हैं जिनमें कि अनंत चतुष्टय को प्राप्त करने की योग्यता है किन्तु अब वे उस अवस्था को प्राप्त कर चुके इसलिये उनके भव्यत्व—उनकी उस योग्यता का परिपाक हो चुका अतएव अपरिपक्व अवस्था की अपेक्षा से भव्य भी नहीं हैं।

भव्य मार्गणासार

जिन जीवों की अनंतचतुष्टय रूप सिद्धि होने वाली हो अथवा जो उसकी प्राप्ति के योग्य हों उनको भव्य कहते हैं। जिनमें इन दोनों में से कोई लक्षण घटित न हो उनको अभव्य कहते हैं अर्थात् कितने ही भव्य ऐसे हैं जो मुक्ति प्राप्ति के योग्य हैं परन्तु कभी भी मुक्त न होंगे। जैसे—विधवा सती स्त्री में पुत्रोत्पत्ति की योग्यता है परन्तु उसके कभी पुत्र उत्पन्न नहीं होगा। कोई भव्य ऐसे हैं जो नियम से मुक्त होंगे। जैसे–बन्ध्यापने से रहित स्त्री के निमित्त मिलने पर नियम से पुत्र उत्पन्न होगा। इस तरह स्वभाव भेद के कारण भव्य दो प्रकार के हैं। इन दोनों स्वभावों से रहित अभव्य हैं जैसे—बन्ध्या स्त्री के निमित्त मिले चाहे न मिले किन्तु पुत्र उत्पन्न नहीं हो सकता है।

जघन्य युक्तानन्त प्रमाण अभव्य राशि है और भव्य राशि इससे बहुत ही अधिक है। काल के अनंत समय हैं फिर भी ऐसा कोई समय नहीं आयेगा कि जब भव्य राशि से संसार खाली हो जाए। अनंतानंत काल के बीत जाने पर भी अनंतानंत भव्यराशि संसार में विद्यमान ही रहेगी क्योंकि यह राशि अक्षय अनंत है।

यद्यपि छह महीना आठ समय में 608 जीव मोक्ष चले जाते हैं और छह महीना आठ समय में इतने ही जीव निगोदराशि से निकलते हैं फिर भी कभी संसार का अंत नहीं हो सकता है न निगोद राशि में ही घाटा आ सकता है।

जिनका पंचपरिवर्तन रूप अनंत संसार सर्वथा छूट गया है और इसलिये जो मुक्ति सुख के भोक्ता हैं उन जीवों को न तो भव्य समझना और न अभव्य समझना क्योंकि अब उनको कोई नवीन अवस्था प्राप्त करना शेष नहीं रहा इसलिये भव्य नहीं हैं और अनंत चतुष्टय को प्राप्त हो चुके इसलिये अभव्य भी नहीं हैं। ऐसे मुक्त जीव भी अनंतानंत हैं।

(सत्रहवाँ अधिकार)

17. सम्यक्त्व मार्गणा

सम्यक्त्व का स्वरूप

छप्पंचणवविहाणं, अत्थाणं जिणवरोवइट्ठाणं।
आणाए अहिगमेण य, सद्दहणं होइ सम्मत्तं।।149।।

षट्पंचनवविधानामर्थानां जिनवरोपदिष्टानाम्।
आज्ञया अधिगमेन च श्रद्धानं भवति सम्यक्त्वम्।।149।।

अर्थ—छह द्रव्य, पाँच अस्तिकाय, नव पदार्थ इनका जिनेन्द्रदेव ने जिस प्रकार से वर्णन किया है उस ही प्रकार से इनका जो श्रद्धान करना उसको सम्यक्त्व कहते हैं। यह दो प्रकार का होता है—एक तो केवल आज्ञा से दूसरा अधिगम से।

भावार्थ—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल ये छह द्रव्य हैं तथा काल को छोड़कर शेष ये ही पाँच अस्तिकाय कहे जाते हैं और जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य, पाप ये नव प्रकार के पदार्थ हैं। इनका "जिनेन्द्रदेव ने जैसा स्वरूप कहा है वास्तव में वही सत्य है" इस तरह बिना युक्ती से निश्चय किये ही जो श्रद्धान होता है उसको आज्ञा सम्यक्त्व कहते हैं तथा इनके विषय में प्रत्यक्ष परोक्ष रूप प्रमाण, द्रव्यार्थिक आदि नय, नाम स्थापना आदि निक्षेप इत्यादि के द्वारा निश्चय करके जो श्रद्धान होता है उसको अधिगम सम्यक्त्व कहते हैं।

मनुष्यगति में गुणस्थानों की अपेक्षा से जीवों का प्रमाण

तेरसकोडी देसे, बावण्णं सासणे मुणेदव्वा।
मिस्सा वि य तद्दुगुणा, असंजदा सत्तकोडिसयं।।150।।

त्रयोदशकोट्यो देशे द्वापंचाशत् सासने मंतव्याः।
मिश्रा अपि चतद्विगुणा असंयताः सप्तकोटिशतम्।।150।।

अर्थ—देशसंयम गुणस्थान में तेरह करोड़, सासादन में बावन करोड़, मिश्र में एक सौ चार करोड़ एवं असंयत में सात सौ करोड़ मनुष्य हैं।

प्रमत्तादि गुणस्थान वाले जीवों का प्रमाण पूर्व में ही बता चुके हैं। इस प्रकार यह गुणस्थानों में मनुष्य जीवों का प्रमाण है।

सर्व संयमी जीवों की संख्या को बताते हैं–

सत्तादी अट्ठंता, छण्णवमज्झा य संजदा सव्वे।
अंजलिमोलियहत्थो, तियरणसुद्धे णमंसामि।।151।।

सप्तादयोऽष्टान्ताः षण्णवमध्याश्च संयताः सर्वे।
अञ्जलिमौलिकहस्तस्त्रिकरणशुद्ध्या नमस्यामि।।151।।

अर्थ—सात आदि में, आठ अन्त में दोनों अंकों के मध्य में छह जगह नौ का अंक "अंकानां वामतो गतिः" के नियमानुसार रखने पर सम्पूर्ण संयमियों का प्रमाण होता है अर्थात् छट्ठे गुणस्थान से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक के सर्व संयमियों का प्रमाण तीन कम नव करोड़ है (89999997) इनको मैं हाथ जोड़कर शिर नवाकर मन, वचन, काय की शुद्धिपूर्वक नमस्कार करता हूँ।

भावार्थ—प्रमत्त वाले जीव 59398206, अप्रमत्त वाले 29699103, उपशमश्रेणी वाले चारों गुणस्थानवर्ती 1196, क्षपकश्रेणी वाले चार गुणस्थानवर्ती 2392, सयोगीजिन 898512, इन सबका जोड़ 89999399 होता है। सो इसको सर्व संयमियों के प्रमाण में से घटाने पर शेष अयोगी जीवों का प्रमाण 598 रहता है। इसको भी संयमियों के प्रमाण में जोड़ने से संयमियों का कुल प्रमाण तीन कम नौ करोड़ होता है।

क्षायिक सम्यक्त्व का स्वरूप

खीणे दंसणमोहे, जं सद्दहणं सुणिम्मलं होई।
तं खाइयसम्मत्तं, णिच्चं कम्मक्खवणहेदू।।152।।

क्षीणे दर्शनमोहे यच्छ्रद्धानं सुनिर्मलं भवति।
तत्क्षायिकसम्यक्त्वं नित्यं कर्मक्षपणहेतु।।152।।

अर्थ—दर्शनमोहनीय कर्म के क्षीण हो जाने पर जो निर्मल श्रद्धान होता है उसको क्षायिक सम्यक्त्व कहते हैं। यह सम्यक्त्व नित्य है और कर्मों के क्षय होने का कारण है।

भावार्थ–यद्यपि दर्शनमोहनीय के मिथ्यात्व, मिश्र, सम्यक्त्वप्रकृति ये तीन

ही भेद हैं तथापि अनंतानुबंधी कषाय भी दर्शनगुण को विपरीत करता है इसलिये इसको भी दर्शनमोहनीय कहते हैं। पंचाध्यायी में भी कहा है कि– "सप्तैते दृष्टिमोहनम्"। अतएव इन सात प्रकृतियों के सर्वथा क्षीण हो जाने से दर्शन गुण की जो अत्यंत निर्मल अवस्था होती है उसको क्षायिक सम्यक्त्व कहते हैं। इसके प्रतिपक्षी कर्मों का एक देश भी अवशिष्ट नहीं रहा है। इस ही लिये यह दूसरे सम्यक्त्वों की तरह सांत नहीं हैं तथा इसके होने पर असंख्यातगुणे कर्मों की निर्जरा होती है इसलिये यह कर्मक्षय का हेतु है।

यह सम्यग्दर्शन किसके तथा कहाँ पर उत्पन्न होता है ?

दंसणमोहक्खवणापट्ठवगो कम्मभूमिजादो हु।
मणुसो केवलिमूले णिट्ठवगो होदि सव्वत्थ।।153।।

दर्शनमोहक्षपणाप्रस्थापकः कर्मभूमिजातो हि।
मनुष्यः केवलिमूले निष्ठापको भवति सर्वत्र।।153।।

अर्थ—दर्शनमोहनीय कर्म के क्षय होने का प्रारंभ केवली के पाद मूल में कर्मभूमि का उत्पन्न होने वाला मनुष्य ही करता है तथा निष्ठापन सर्वत्र होता है।

भावार्थ–दर्शनमोहनीय कर्म के क्षय होने का जो क्रम है उसका प्रारंभ केवली, श्रुतकेवली के पादमूल में (निकट) ही होता है तथा उसका (प्रारंभ का) करने वाला कर्मभूमिज मनुष्य ही होता है। यदि कदाचित् पूर्ण क्षय होने के प्रथम ही मरण हो जाय तो उसकी (क्षपणा की) समाप्ति चारों गतियों में से किसी भी गति में हो सकती है।

वेदकसम्यक्त्व का स्वरूप

दंसणमोहुदयादो, उप्पज्जइ जं पयत्थसद्दहणं।
चलमलिणमगाढं तं, वेदयसम्मत्तमिदि जाणे।।154।।

दर्शनमोहोदयादुत्पद्यते यत् पदार्थश्रद्धानम्।
चलमलिनमगाढं तद् वेदकसम्यक्त्वमिति जानीहि।।154।।

अर्थ—सम्यक्त्वमोहनीय प्रकृति के उदय से पदार्थों का जो चल,

मलिन, अगाढ़रूप श्रद्धान उत्पन्न होता है उसको वेदकसम्यक्त्व कहते हैं।

भावार्थ—मिथ्यात्व, मिश्र और अनंतानुबंधी चतुष्क इनका सर्वथा क्षय अथवा उदयाभावी क्षय और उपशम हो चुकने पर किन्तु अवशिष्ट सम्यक्त्व प्रकृति के उदय होते हुए पदार्थों का जो श्रद्धान होता है उसको वेदक सम्यक्त्व कहते हैं। यहाँ पर सम्यक्त्व प्रकृति के उदयजनित चलता, मलिनता और अगाढ़ता ये तीन दोष होते हैं। इन तीनों का लक्षण पहले कह चुके हैं।

उपशम सम्यक्त्व का स्वरूप और सामग्री

दंसणमोहुवसमदो, उप्पज्जइ जं पयत्थसद्दहणं।
उवसमसम्मत्तमिणं, पसण्णमलपंकतोयसमं।।155।।

दर्शनमोहोपशमादुत्पद्यते यत्पदार्थश्रद्धानम्।
उपशमसम्यक्त्वमिदं प्रसन्नमलपंकतोयसमम्।।155।।

अर्थ—उक्त सम्यक्त्व विरोधिनी पाँच अथवा सात प्रकृतियों के उपशम से जो पदार्थों का श्रद्धान होता है उसको उपशमसम्यक्त्व कहते हैं। यह सम्यक्त्व इस तरह का निर्मल होता है जैसा कि निर्मली आदि पदार्थों के निमित्त से कीचड़ आदि जल के नीचे बैठ जाने पर जल निर्मल होता है।

भावार्थ—उपशम सम्यक्त्व और क्षायिक सम्यक्त्व निर्मलता की अपेक्षा समान हैं क्योंकि प्रतिपक्षी कर्मों का उदय दोनों ही स्थान पर नहीं है किन्तु विशेषता इतनी ही है कि क्षायिक सम्यक्त्व के प्रतिपक्षी कर्म का सर्वथा अभाव हो गया है और उपशम सम्यक्त्व के प्रतिपक्षी कर्म की सत्ता है। जैसे—किसी जल में निर्मली आदि के द्वारा ऊपर से निर्मलता होने पर भी नीचे कीचड़ जमी रहती है और किसी जल के नीचे कीचड़ रहती ही नहीं। ये दोनों जल निर्मलता की अपेक्षा समान हैं। अंतर यही है कि एक के नीचे कीचड़ है दूसरे के नीचे कीचड़ नहीं है। जिसके नीचे कीचड़ है ऊपर से स्वच्छ है उस निर्मल जल के समान ही औपशमिक सम्यक्त्व है और जिसके नीचे कीचड़ नहीं है उस निर्मल जल के सदृश क्षायिक सम्यक्त्व होता है। औपशमिक सम्यक्त्व अनादि मिथ्यादृष्टि के पाँच प्रकृतियों के उपशम से और सादि मिथ्यादृष्टि के सात प्रकृतियों के उपशम से हुआ करता है।

पाँच लब्धि के नाम

खयउवसमियविसोही, देसणपाउग्गकरणलद्धी य।
चत्तारि वि सामण्णा, करणं पुण होदि सम्मत्ते।।156।।

क्षायोपशमिकविशुद्धो देशना प्रायोग्यकरणलब्धी च।
चतस्रोऽपि सामान्याः करणं पुनर्भवति सम्यक्त्वे।।156।।

अर्थ—क्षायोपशमिक, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य, करण ये पाँच लब्धि हैं। इनमें पहली चार तो सामान्य हैं, भव्य-अभव्य दोनों के ही संभव हैं किन्तु करण लब्धि विशेष है। यह भव्य के ही हुआ करती है और इसके होने पर सम्यक्त्व या चारित्र नियम से होता है।

भावार्थ—लब्धि शब्द का अर्थ प्राप्ति है। प्रकृत में सम्यक्त्व ग्रहण करने के योग्य सामग्री की प्राप्ति होना इसको लब्धि कहते हैं। उसके उक्त पाँच भेद हैं। अशुभ कर्मों के अनुभागेक उत्तरोत्तर होने को क्षायोपशमिक लब्धि कहते हैं। निर्मलता विशेष को विशुद्धि कहते हैं। योग्य उपदेश को देशना कहते हैं। पंचेन्द्रियादि स्वरूप योग्यता के मिलने को प्रायोग्यलब्धि कहते हैं। अधःकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरणरूप परिणामों को करणलब्धि कहते हैं। इन तीनों करणों का स्वरूप पहले कह चुके हैं। इन पाँच लब्धियों में से आदि की चार लब्धि तो सामान्य हैं अर्थात् भव्य-अभव्य दोनों के होती हैं किन्तु करणलब्धि असाधारण है, इसके होने पर नियम से सम्यक्त्व या चारित्र होता है। जब तक करणलब्धि नहीं होती तब तक सम्यक्त्व नहीं होता।

सम्यक्त्व के योग्य जीव

चदुगदिभव्वो सण्णी, पज्जत्तो सुज्झगो य सागारो।
जागारो सल्लेसो, सलद्धिगो सम्ममुबगमई।।157।।

चतुर्गतिभव्यः संज्ञी पर्याप्तः शुद्धकश्च साकारः।
जागरूकः सल्लेश्यः सलब्धिकः सम्यक्त्वमुपगच्छति।।157।।

अर्थ—जो जीव चार गतियों में से किसी एक गति का धारक तथा

भव्य संज्ञी, पर्याप्त, विशुद्धि—सातादि के बंध के योग्य परिणति से युक्त, जागृत—स्त्यानगृद्धि आदि तीन निद्राओं के रहित, साकार उपयोग युक्त और शुभ लेश्या का धारक होकर करणलब्धिरूप परिणामों का धारक होता है वह जीव सम्यक्त्व को प्राप्त करता है।

अणुव्रत-महाव्रत का महत्व

चत्तारि वि खेत्ताइं, आउगबंधेण होदि सम्मत्तं।
अणुवदमहव्वदाइं, ण लहइ देवाउगं मोत्तुं।।158।।

चत्वार्यपि क्षेत्राणि आयुष्कबन्धेन भवति सम्यक्त्वम्।
अणुव्रतमहाव्रतानि न लभते देवायुष्कं मुक्त्वा।।158।।

अर्थ—चारों गति संबंधी आयुकर्म का बंध हो जाने पर भी सम्यक्त्व हो सकता है किन्तु देवायु को छोड़कर शेष आयु का बंध होने पर अणुव्रत और महाव्रत नहीं होता।

भावार्थ—चारों गतियों में से किसी भी गति में रहने वाले जीव के चार प्रकार की आयु में से किसी भी आयु का बंध होने पर भी सम्यक्त्व की उत्पत्ति हो सकती है—इसमें कोई बाधा नहीं है किन्तु अणुव्रत या महाव्रत उसी जीव के हो सकते हैं जिसके चार आयुकर्मों में से केवल देवायु का ही बंध हुआ हो अथवा किसी भी आयु का बंध न हुआ हो। नरकायु, तिर्यगायु, मनुष्यायु इन तीन आयुओं में से किसी भी आयु का बंध करके पुनः सम्यक्त्व प्राप्त करने वाले जीव के अणुव्रत या महाव्रत नहीं होते।

सम्यक्त्व मार्गणासार

सम्यक्त्व का लक्षण—छह द्रव्य, पाँच अस्तिकाय, नव पदार्थ इनका जिनेन्द्रदेव के कहे अनुसार श्रद्धान करना सम्यक्त्व है। इसके दो भेद हैं– आज्ञासम्यक्त्व एवं अधिगम सम्यक्त्व। सूक्ष्मादि तत्त्वों में जिनेन्द्रदेव ने जो कहा सो ठीक है, वे अन्यथावादी नहीं हैं ऐसा श्रद्धान करना आज्ञासम्यक्त्व है और प्रमाण नयादि से समझकर या परोपदेशपूर्वक श्रद्धान करना अधिगम सम्यक्त्व है।

सम्यक्त्व मार्गणा के छह भेद हैं—क्षायिक, वेदक, उपशमसम्यक्त्व, सासादन, मिश्र और मिथ्यात्व।

क्षायिकसम्यक्त्व—अनंतानुबंधी कषाय की चार और दर्शन मोहनीय की तीन ऐसे सात प्रकृतियों के अत्यंत क्षय से जो निर्मल श्रद्धान होता है उसे क्षायिक सम्यक्त्व कहते हैं। यह सम्यक्त्व नित्य है और असंख्यात गुण श्रेणीरूप से कर्मों के क्षय में कारण है। क्षायिक सम्यक्त्व होने पर यह जीव उसी भव से मुक्त हो जाता है अथवा देवायु का बंध हो गया है तो तीसरे भव से मुक्त होता है। यदि सम्यक्त्व के पहले मिथ्यात्व अवस्था में मनुष्य या तिर्यंचायु का बंध कर लिया है तो उत्तम भोगभूमि में मनुष्य या तिर्यंच होकर स्वर्ग जाकर पुनः मनुष्य होकर मुक्त होता है। अतः चौथे भव में नियम से सिद्ध हो जाता है उसका उल्लंघन नहीं करता है। सम्यक्त्व के पहले कदाचित् नरकायु का बंध कर ले तो भी श्रेणिक के समान तृतीय भव से ही मोक्ष जायेगा अतः यह सम्यक्त्व सादि अनंत है। कर्मभूमि का मनुष्य केवली के पादमूल में ही दर्शनमोहनीय का क्षय प्रारंभ करता है अन्यत्र नहीं। अतः आजकल वह सम्यक्त्व नहीं है।

वेदकसम्यक्त्व—सम्यक्त्व मोहनीय प्रकृति के उदय से पदार्थों का जो चल-मलिन-अगाढ़ रूप श्रद्धान होता है वह वेदकसम्यक्त्व है यद्यपि सभी तीर्थंकर समान हैं, पार्श्वनाथ संकट हरने वाले हैं, ऐसा जो भाव है वह चलदोष है। कदाचित् अतिचार के लग जाने से मलिन दोष आता है। अपने बनाये हुए मंदिर में ''यह मंदिर मेरा है'' इत्यादि भावों से अगाढ़ दोष होता है। सम्यक्त्व प्रकृति के निमित्त से दोष हो जाया करते हैं। इसकी जघन्य स्थिति अंतर्मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति छ्यासठ सागर प्रमाण है।

उपशमसम्यक्त्व—पाँच अथवा सात प्रकृतियों के उपशम से जो सम्यक्त्व होता है वह उपशम सम्यक्त्व है। कीचड़ के नीचे बैठ जाने से निर्मल जल के सदृश यह सम्यक्त्व भी निर्मल होता है। इसकी जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति अंतर्मुहूर्त है। यह सम्यक्त्व अनादि मिथ्यादृष्टि के पाँच प्रकृतियों के उपशम से (सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्त्व प्रकृति को छोड़कर) और सादि मिथ्यादृष्टि के सात प्रकृतियों के उपशम से होता है।

सम्यक्त्व उत्पत्ति में सामग्री—कोई भी जीव चारों गति में से किसी एक गति में हो, भव्य, संज्ञी, पर्याप्त, मंदकषाय से युक्त, जाग्रत, ज्ञानोपयोग युक्त शुभ लेश्या का धारक होकर करणलब्धि रूप परिणाम को प्राप्त करता है तब सम्यक्त्व को प्राप्त करता है अर्थात् सम्यक्त्व प्राप्ति के लिए पांच लब्धि हैं–क्षायोपशमिक, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य और करण। इनमें पहली चार तो सामान्य हैं, भव्य-अभव्य दोनों के सम्भव है किन्तु करणलब्धि होने पर नियम से सम्यक्त्व प्रकट हो जाता है। सबसे प्रथम अनादि मिथ्यादृष्टि को उपशम सम्यक्त्व ही होता है। अनंतर वेदक और क्षायिक होते हैं।

सम्यग्दृष्टि जीव की विशेषता—चारों गति सम्बधी आयु के बंध हो जाने पर भी सम्यक्त्व हो सकता है किन्तु देवायु को छोड़कर शेष आयु का बंध होने पर अणुव्रत और महाव्रत नहीं हो सकते हैं।

सासादन सम्यक्त्व—जो जीव सम्यक्त्व से च्युत हो गया है किन्तु मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं हुआ है वह सासादन गुणस्थान वाला है।

मिश्र—विरताविरत की तरह जिसके तत्त्वों का श्रद्धान और अश्रद्धान दोनों है, वह मिश्रगुणस्थान वाला है।

मिथ्यात्व—जो जिनेन्द्र कथित आप्तादि का श्रद्धान नहीं करता है और कुदेव, कुतत्त्व आदि का श्रद्धान करता है वह मिथ्यादृष्टि है।

पुण्य-पाप जीव—मिथ्यादृष्टि और सासादन गुणस्थान वाले जीव पाप जीव है। मिश्रगुण स्थान वाले पुण्य पाप के मिश्ररूप हैं तथा चौथे गुणस्थान के असंयत से लेकर सभी पुण्य जीव हैं।

एक बार जिस जीव को सम्यग्दर्शन हो जाता है वह जीव नियम से मोक्ष को प्राप्त करता है। कम से कम अंतर्मुहूर्त में और अधिक से अधिक अर्धपुद्गल परिवर्तन काल तक वह संसार में रह सकता है। इसलिये करोड़ों उपाय करके सम्यक्त्व रूपी रत्न को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये।

(अठारहवाँ अधिकार)

18. संज्ञी मार्गणा

संज्ञि मार्गणा का स्वरूप

णोइंदियआवरणखओवसमं तज्जबोहणं सण्णा।
सा जस्स सो दु सण्णी, इदरो सेसिंदिअवबोहो।।159।।

नोइन्द्रियावरणक्षयोपशमस्तज्जबोधनं संज्ञा।
सा यस्य स तु संज्ञी इतरः शेषेन्द्रियावबोधः।।159।।

अर्थ—नोइन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम को या तज्जन्य ज्ञान को संज्ञा कहते हैं। यह संज्ञा जिसके हो उसको संज्ञी कहते हैं और जिनके यह संज्ञा न हो किन्तु केवल यथासम्भव इंद्रियजन्य ज्ञान हो उनको असंज्ञी कहते हैं।

भावार्थ—जीव दो प्रकार के होते हैं—एक संज्ञी दूसरे असंज्ञी। संज्ञा शब्द से मुख्यतया तीन अर्थ लिये जाते हैं। 1. नाम निक्षेप, जो कि व्यवहार के लिय किसी का रख दिया जाता है। जैसे—ऋषभ, भरत, बाहुबली, अर्ककीर्ति, महावीर आदि। 2. आहार, भय, मैथुन और परिग्रह की इच्छा। 3. धारणात्मक या ऊहापोहरूप विचारात्मक ज्ञान विशेष। प्रकृत में यह अंतिम अर्थ ही विवक्षित है। यह दो प्रकार का हुआ करता है—लब्धिरूप और उपयोगरूप। प्रतिपक्षी नोइन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त विशुद्धि को लब्धि और अपने विषय में प्रवृत्ति को उपयोग कहते हैं। जिनके यह लब्धि या उपयोग रूप मन—ज्ञान विशेष पाया जाय उनको संज्ञी कहते हैं और जिनके यह मन न हो उनको असंज्ञी कहते हैं। इन असंज्ञी जीवों के मानस ज्ञान नहीं होता, यथासंभव इंद्रियजन्य ज्ञान ही होता है।

संज्ञी-असंज्ञी के चिन्ह

सिक्खाकिरियुवदेसालावग्गाही मणोवलंबेण।
जो जीवो सो सण्णी, तव्विवरीओ असण्णी दु।।160।।

शिक्षाक्रियोपदेशालापग्राही मनोऽवलम्बेन।
यो जीवः स संज्ञी तद्विपरीतोऽसंज्ञी तु।।160।।

अर्थ—हित का ग्रहण और अहित का त्याग जिसके द्वारा किया जा

सके उसको शिक्षा कहते हैं। इच्छापूर्वक हाथ पैर के चलाने को क्रिया कहते हैं। वचन अथवा चाबुक आदि के द्वारा बताए हुए कर्तव्य को उपदेश कहते हैं और श्लोक आदि के पाठ को आलाप कहते हैं।

जो जीव इन शिक्षादिक को मन के अवलम्बन से ग्रहण—धारण करता है उसको संज्ञी कहते हैं और जिन जीवों में यह लक्षण घटित न हो उनको असंज्ञी समझना चाहिए।

इन्हीं के संज्ञी-असंज्ञी के विशेष स्वरूप

मीमंसदि जो पुव्वं, कज्जमकज्जं च तच्चमिदरं च।
सिक्खदि णामेणेदि य, समणो अमणो य विवरीदो।।161।।

मीमांसति यः पूर्वं कार्यमकार्यं च तत्त्वमितरच्च।
शिक्षते नाम्ना एति च समनाः अमनाश्च विपरीतः।।161।।

अर्थ—जो जीव प्रवृत्ति करने के पहले अपने कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का विचार करे तथा तत्त्व और अतत्त्व का स्वरूप समझ सके और उसका जो नाम रखा गया हो उस नाम के द्वारा बुलाने पर आ सके, उन्मुख हो अथवा उत्तर दे सके उसको समनस्क या संज्ञी जीव कहते हैं और इससे जो विपरीत है उसको अमनस्क या असंज्ञी कहते हैं।

संज्ञी मार्गणासार

जीव दो प्रकार के होते हैं—संज्ञी और असंज्ञी।

संज्ञी—नोइन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम या उससे उत्पन्न ज्ञान को संज्ञा कहते हैं। वह जिसके हो वह संज्ञी कहलाता है अर्थात् मन सहित जीव संज्ञी हैं। ये शिक्षा, उपदेश, संकेत ग्रहण कर सकते हैं।

असंज्ञी—मन रहित जीव असंज्ञी कहलाते हैं। ये शिक्षा, उपदेश आदि नहीं समझ सकते। हित में प्रवृत्ति और अहित से हटना भी नहीं समझ सकते हैं।

सम्पूर्ण देव, नारकी, मनुष्य और मन सहित पंचेन्द्रिय तिर्यंच संज्ञी हैं। शेष एकेन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक सभी जीव असंज्ञी हैं। ये अनंत संसारी जीव असंज्ञी हैं।

तेरहवें, चौदहवें गुणस्थानवर्ती जीव और सिद्ध जीव संज्ञी, असंज्ञी अवस्था से रहित आत्मज्ञान से परिपूर्ण केवलज्ञानी हैं।

(उन्नीसवाँ अधिकार)

19. आहार मार्गणा

आहार का स्वरूप

उदयावण्णसरीरोदयेण तद्देहवयणचित्ताणं।
णोकम्मवग्गणाणं, गहणं आहारयं णाम।।162।।

उदयापन्नशरीरोदयेन तद्देहवचनचित्तानाम्।
नोकर्मवर्गणानां ग्रहणमाहारकं नाम।।162।।

अर्थ—शरीरनामा नामकर्म के उदय से देह—औदारिक, वैक्रियक, आहारक इनमें से यथासंभव किसी भी शरीर तथा वचन और द्रव्य मनरूप बनने के योग्य नोकर्मवर्गणाओं का जो ग्रहण होता है उसको आहार कहते हैं।

आहारक-अनाहारक जीव कौन हैं ?

विग्गहगदिमावण्णा केवलिणो समुग्घदो अजोगी य।
सिद्धा य अणाहारा, सेसा आहारया जीवा।।163।।

विग्रहगतिमापन्नाः केवलिनः समुद्घाता अयोगिनश्च।
सिद्धाश्च अनाहाराः शेषा आहारका जीवाः।।163।।

अर्थ—विग्रहगति को प्राप्त होने वाले चारों गति संबंधी जीव, प्रतर और लोकपूरण समुद्घात करने वाले सयोगिकेवली, अयोगिकेवली, समस्त सिद्ध इतने जीव तो अनाहारक होते हैं और इनको छोड़कर शेष सभी जीव आहारक जीव हैं।

समुद्घात कितने प्रकार का होता है ?

वेयणकसायवेगुव्वियो य मरणंतियो समुग्घादो।
तेजाहारो छट्ठो, सत्तमओ केवलीणं तु।।164।।

वेदनाकषायवैगुर्विकाश्च मारणान्तिकः समुद्घातः।
तेज आहारः षष्ठः सप्तमः केवलिनां तु।।164।।

अर्थ—समुद्घात के सात भेद हैं—वेदना, कषाय, वैक्रियक,

मारणान्तिक, तैजस, आहारक, केवली। इनका स्वरूप लेश्यामार्गणा के क्षेत्राधिकार में कहा जा चुका है, इसलिये यहाँ पर नहीं कहा है।

समुद्घात का स्वरूप

मूलसरीरमछंडिय, उत्तरदेहस्स जीवपिंडस्स।
णिग्गमणं देहादो, होदि समुग्घादणामं तु।।165।।

मूलशरीरमत्यक्त्वा उत्तरदेहस्य जीवपिण्डस्य।
निर्गमनं देहाद् भवति समुद्घातनाम तु।।165।।

अर्थ—मूल शरीर को न छोड़कर तैजस, कार्मण रूप उत्तर देह के साथ जीव प्रदेशों के शरीर से बाहर निकलने को समुद्घात कहते हैं।

आहार मार्गणासार

जीव के दो भेद हैं—आहारक और अनाहारक।

शरीर नामकर्म के उदय से औदारिक आदि किसी शरीर के योग्य तथा वचन, मन के योग्य वर्गणाओं का यथासम्भव ग्रहण होना आहार है उसको ग्रहण करने वाला जीव आहारक है। इसके विपरीत अर्थात् नोकर्म वर्गणाओं को ग्रहण न करने वाले जीव अनाहारक हैं।

अनाहारक जीव—विग्रहगति वाले जीव, केवली समुद्घात में प्रतर और लोकपूरण समुद्घात वाले सयोगिकेवली जीव तथा अयोगिकेवली और सभी सिद्ध अनाहारक होते हैं।

आहारक जीव—उपर्युक्त अनाहारक से अतिरिक्त शेष सभी जीव आहारक होते हैं। आहारक के छह भेद हैं—कवलाहार, कर्माहार, नोकर्माहार, लेपाहार, ओज आहार और मानसिक आहार।

ग्रास उठाकर खाना कवलाहार है। यह सभी मनुष्य और तिर्यंच आदि में होता है। आठ कर्मयोग्य वर्गणाओं का ग्रहण करना कर्माहार है, यह विग्रहगति में भी होता है। शरीर और पर्याप्ति के योग्य नोकर्म वर्गणाओं का ग्रहण करना नोकर्माहार है यह केवली भगवान के भी होता है, उनके भी शरीर के योग्य वर्गणायें आ रही हैं वे आहारक हैं। फिर भी वे कवलाहार

नहीं करते हैं। जो लेप से पोषण होता है वह लेपाहार है, यह वृक्षों में पाया जाता है। जो शरीर की गर्मी से पोषण करता है वह ओजाहार है जैसे—मुर्गी अण्डे को सेकर गर्मी देती है। देवों के मन में इच्छा होते की कंठ से अमृत झर कर तृप्ति हो जाती है यह मानसिक आहार है। देव लोग बलि या माँस भक्षण अथवा सुरापान आदि नहीं करते हैं।

अनाहारक का उत्कृष्ट काल तीन समय और जघन्यकाल एक समय है। आहारक का जघन्यकाल तीन समय कम श्वांस के अठारहवें भाग प्रमाण है और उत्कृष्ट काल सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण है।

आहारक मार्गणा को समझकर कवलाहार के त्यागपूर्वक उपवास, तपश्चरण करते हुए कर्म-नोकर्माहार से रहित अनाहारक सिद्ध पद प्राप्त करना चाहिए।

(बीसवाँ अधिकार)

20. उपयोग अधिकार

उपयोग का लक्षण और भेद

वत्थुणिमित्तं भावो, जादो जीवस्स जो दु उवजोगो।
सो दुविहो णायव्वो, सायारो चेव णायारो।।166।।

वस्तुनिमित्तं भावो जातो जीवस्य यस्तूपयोगः।
स द्विविधो ज्ञातव्यः साकारश्चैवानाकारः।।166।।

अर्थ—जीव का जो भाव वस्तु (ज्ञेय को) ग्रहण करने के लिए प्रवृत्त होता है उसको उपयोग कहते हैं। इसके दो भेद हैं—एक साकार (सविकल्प) दूसरा निराकार (निर्विकल्प)।

उपयोग के नाम

णाणं पंचविहं पि य, अण्णाणतियं च सागरूवजोगो।
चदुदंसणमणगारो, सव्वे तल्लक्खणा जीवाः।।167।।

ज्ञानं पंचविधमपि च अज्ञानत्रिकं च साकारोपयोगः।
चतुर्दर्शनमनाकारः सर्वे तल्लक्षणा जीवाः।।167।।

अर्थ—पाँच प्रकार का सम्यग्ज्ञान—मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय तथा केवलज्ञान, तीन प्रकार का अज्ञान—मिथ्यात्व—कुमति, कुश्रुत, विभंग ये आठ साकार उपयोग के भेद हैं। चार प्रकार का दर्शन—चक्षुर्दशन, अचक्षुर्दर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन अनाकार उपयोग हैं। यह उपयोग ही सम्पूर्ण जीवों का लक्षण है क्योंकि उपयोग के इन 12 प्रकारों में से जीव के कोई न कोई उपयोग अवश्य रहा करता है।

साकार उपयोग का स्वरूप

मदिसुदओहिमणेहि य, सगसगविसये विसेसविण्णाणं।
अंतोमुहुत्तकालो, उवजोगो सो दु सायारो।।168।।

मतिश्रुतावधिमनोभिश्च स्वकस्वकविषये विशेषविज्ञानम्।
अंतर्मुहूर्तकाल उपयोगः स तु साकारः।।168।।

अर्थ—मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय इनके द्वारा अपने-अपने विषय का अंतर्मुहूर्तकाल पर्यन्त जो विशेष ज्ञान होता है उसको ही साकार उपयोग कहते हैं।

भावार्थ–साकार उपयोग के पाँच भेद हैं—मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल। इनमें से आदि के चार ही उपयोग छद्मस्थ जीवों के होते हैं। उपयोग चेतना का एक परिणमन है तथा एक वस्तु के ग्रहणरूप चेतना का यह परिणमन छद्मस्थ जीव के अधिक से अधिक अंतर्मुहूर्तकाल तक ही रह सकता है। इस साकार उपयोग में यही विशेषता है कि यह वस्तु के विशेष अंश को ग्रहण करता है।

अनाकार उपयोग का स्वरूप

इंदियमणोहिणा वा, अत्थे अविसेसिदूण जं गहणं।
अंतोमुहुत्तकालो, उवजोगो सो अणायारो।।169।।

इंद्रियमनोऽवधिना वा अर्थे अविशेष्य यद्ग्रहणम्।
अंतर्मुहूर्तकालः उपयोगः स अनाकारः।।169।।

अर्थ—इंद्रिय, मन और अवधि के द्वारा अंतर्मुहूर्तकाल तक पदार्थों का जो सामान्यरूप से ग्रहण होता है उसको निराकार उपयोग कहते हैं।

भावार्थ—दर्शन के चार भेद हैं—चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन। इनमें से आदि के तीन दर्शन छद्मस्थ जीवों के होते हैं। नेत्र के द्वारा पदार्थ का जो सामान्यावलोकन होता है उसको चक्षुदर्शन कहते हैं और नेत्र को छोड़कर शेष चार इंद्रिय तथा मन के द्वारा जो सामान्यावलोकन होता है उसको अचक्षुदर्शन कहते हैं। अवधिज्ञान के पहले इंद्रिय और मन की सहायता के बिना आत्म मात्र से जो रूपी पदार्थ विषयक सामान्यावलोकन होता है उसको अवधिदर्शन कहते हैं। यह दर्शनरूप निराकार उपयोग भी साकार उपयोग की तरह छद्मस्थ जीवों के अधिक से अधिक अंतर्मुहूर्त तक होता है।

गुणस्थानियों का स्वरूप बताकर गुणस्थानातीत सिद्धों का स्वरूप बताते हैं–

सिद्धाणं सिद्धगई, केवलणाणं च दंसणं खयियं।
सम्मत्तमणाहारं, उवजोगाणक्कमपउत्ती।।170।।

सिद्धानां सिद्धगतिः केवलज्ञानं च दर्शनं क्षायिकम्।
सम्यक्त्वमनाहारमुपयोगानामक्रमप्रवृत्तिः।।170।।

अर्थ—सिद्ध जीवों के सिद्धगति, केवलज्ञान, क्षायिकदर्शन, क्षायिक-सम्यक्त्व, अनाहार और उपयोग की अक्रम प्रवृत्ति होती है।

भावार्थ—छद्मस्थ जीवों के क्षायोपशमिक ज्ञान, दर्शन की तरह सिद्धों के क्षायिक ज्ञान दर्शनरूप उपयोग की क्रम से प्रवृत्ति नहीं होती किन्तु युगपत् होती है तथा सिद्धों के आहार नहीं होता, वे अनाहार होते हैं क्योंकि उनसे कर्म का और नोकर्म का सर्वथा संबंध ही छूट गया है। ''णोकम्मकम्महारो कवलाहारो य लेप्पमाहारो, ओजमणोवि य कमसो आहारो छब्भिहो णेयो''।।1।। इस गाथा के अनुसार नोकर्म और कर्म भी आहार ही हैं अतः सर्वथा अनाहार सिद्धों के ही होता है।

गुणजीवठाणरहिया, सण्णापज्जत्तिपाणपरिहीणा।
सेसणवमग्गणूणा, सिद्धा सुद्धा सदा होंति।।171।।

गुणजीवस्थानरहिताः संज्ञापर्याप्तिप्राणपरिहीनाः।
शेषनवमार्गणोनाः सिद्धाः शुद्धाः सदा भवन्ति।।171।।

अर्थ—सिद्ध परमेष्ठी, चौदह गुणस्थान, चौदह जीवसमास, चार संज्ञा, छह पर्याप्ति, दश प्राण इनसे रहित होते हैं तथा इनके सिद्धगति ज्ञान दर्शन सम्यक्त्व और अनाहार को छोड़कर शेष नव मार्गणा नहीं पाई जातीं और ये सिद्ध सदा शुद्ध ही रहते हैं क्योंकि मुक्ति प्राप्ति के बाद पुनः कर्म का बंध नहीं होता।

अंत में बीस भेदों के जानने के उपाय को बताते हुए इसका फल दिखाते हैं–

णिक्खेवे एयत्थे, णयप्पमाणे णिरुत्तिअणियोगे।
मग्गइ वीसं भेयं, सो जाणइ अप्पसब्भावं।।172।।

निक्षेपे एकार्थे नयप्रमाणे निरुक्त्यनुयोगयोः।
मार्गयति विशं भेदं स जानाति आत्मसद्भावम्।।172।।

अर्थ—जो भव्य उक्त गुणस्थानादिक बीस भेदों को निक्षेप एकार्थ नय प्रमाण निरुक्ति अनुयोग आदि के द्वारा जान लेता है, वही आत्म सद्भाव को समझता है।

भावार्थ—जिनके द्वारा पदार्थों का समीचीन व्यवहार हो, ऐसे उपायविशेष को निक्षेप कहते हैं। इसके चार भेद हैं–नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। इनके द्वारा जीवादिक समस्त पदार्थों का समीचीन व्यवहार होता है। जैसे–किसी अर्थ विशेष की अपेक्षा न करके किसी की 'जीव' यह संज्ञा रख दी, इसको जीव का नाम निक्षेप कहते हैं। किसी काष्ठ चित्र या मूर्ति आदि में किसी जीव की ''यह वही है'' ऐसे संकल्परूप को स्थापना निक्षेप कहते हैं। स्थापना में स्थाप्यमान पदार्थ की तरह ही उसका आदर अनुग्रह होता है। भविष्यत् या भूत को वर्तमानवत् कहना द्रव्यनिक्षेप है। जैसे–कोई देव मरकर मनुष्य होने वाला है। उसको देवपर्याय में मनुष्य कहना अथवा मनुष्य होने पर देव कहना यह द्रव्यनिक्षेप का विषय है। वर्तमान मनुष्य को मनुष्य कहना यह भावनिक्षेप का विषय है। प्राणभूत असाधारण लक्षण को एकार्थ कहते हैं। जैसे–जीव का लक्षण दश प्राणों में से यथासंभव प्राणों का धारण करना या चेतना (जानना या देखना) है। यही जीव का एकार्थ है। अथवा एक ही अर्थ के वाचक भिन्न-भिन्न शब्दों को भी एकार्थ कहते हैं। जैसे कि प्राणीभूत जीव और सत्व ये शब्द भिन्न-भिन्न अर्थों की अपेक्षा रखते हुए भी एक जीव अर्थ के वाचक हैं। वस्तु के अंशग्रहण को नय कहते हैं। जैसे–जीव शब्द के द्वारा आत्मा की एक जीवत्वशक्ति का ग्रहण करना। एक शक्ति के द्वारा समस्त वस्तु के ग्रहण को प्रमाण कहते हैं। जैसे–जीव शब्द के द्वारा सम्पूर्ण आत्मा का ग्रहण करना। जिस धातु और प्रत्यय द्वारा जिस अर्थ में जो शब्द निष्पन्न हुआ है, उसको उस ही प्रकार से दिखाने को निरुक्ति कहते हैं। जैसे–जीवति जीविष्यति अजीवित् वा स जीवः–जो जीता है या जीवेगा या जीया हो उसको जीव कहते हैं। जीवादिक पदार्थों के जानने के उपायविशेष को अनुयोग कहते हैं। उसके छह भेद हैं–निर्देश (नाममात्र या स्वरूप अथवा लक्षण कहना), स्वामित्व, साधन (उत्पत्ति के

निमित्त), अधिकरण, स्थिति (काल की मर्यादा) और निधान अर्थात् भेद। इन उपायों से जो उक्त बीस प्ररूपणाओं को जान लेता है, वही आत्मा के समीचीन स्वरूप को समझ सकता है।

अंत में आशीर्वादस्वरूप गाथा

अज्जज्जसेणगुणगणसमूहसंधारिअजियसेणगुरू।
भुवणगुरु जस्स गुरु सो राओ गोम्मटो जयतु।।173।।

आचार्यसेनगुणगणसमूहसंधार्यजितसेनगुरुः।
भुवनगुरुर्यस्य गुरुः स राजा गोम्मटो जयतु।।173।।

अर्थ—श्री आर्यसेन आचार्य के अनेक गुणगण को धारण करने वाले और तीन लोक के गुरू श्री अजितसेन आचार्य जिसके गुरू हैं वह श्री गोम्मट (चामुण्डराय) राजा जयवंत रहो।

।।इति गोम्मटसारस्य जीवकाण्डं समाप्तम्।।

उपयोग प्ररूपणासार

जीव का जो भाव वस्तु को ग्रहण करने के लिये प्रवृत्त होता है उसको उपयोग कहते हैं। इसके दो भेद हैं—एक साकार दूसरा निराकार। साकार को ज्ञान और निराकार को दर्शन कहते हैं।

ज्ञान के पाँच भेद हैं और अज्ञान के तीन भेद हैं। मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, केवलज्ञान, कुमति कुश्रुत, कुअवधिज्ञान।

दर्शन के चार भेद हैं—चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन। इनका वर्णन ज्ञानमार्गणा में आ चुका है।

उपयोग चेतना का एक परिणमन है। यह छद्मस्थ जीवों में अधिक से अधिक अंतर्मुहूर्त तक ही रह सकता है। चार ज्ञान, तीन अज्ञान और तीन दर्शन क्षायोपशमिक हैं तथा केवलज्ञान और केवलदर्शन क्षायिक है। छद्मस्थ-जीवों में एक साथ दो उपयोग नहीं हो सकते हैं किन्तु केवली भगवान में एक साथ केवलज्ञान, दर्शन ये दोनों उपयोग होते हैं और ये शाश्वत, अनंत काल तक रहते हैं। केवली भगवान और सिद्ध इन उपयोगों के द्वारा समस्त

लोक, अलोक और उनकी भूत, भविष्यत, वर्तमानकालीन सभी पर्यायों को एक समय में युगपत् देखते और जानते हैं।

इस प्रकार गुणस्थान, जीवसमास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा, चौदह मार्गणा और उपयोग इन बीस प्ररूपणाओं का संक्षिप्त वर्णन किया गया है।

सिद्ध भगवान चौदह गुणस्थान, चौदह जीवसमास, चार संज्ञा, छह पर्याप्ति, दश प्राण इनसे रहित होते हैं तथा इनके सिद्धगति, केवलज्ञान, केवलदर्शन, क्षायिक सम्यक्त्व और अनाहार को छोड़कर शेष नौ मार्गणाएँ नहीं पायी जाती हैं अर्थात् गति, ज्ञान, दर्शन, सम्यक्त्व और आहार मार्गणा के अतिरिक्त इंद्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, संयम, लेश्या, भव्यत्व, संज्ञी ये नौ मार्गणायें सिद्धों में नहीं हैं। सिद्धों में पाँच मार्गणा और केवलज्ञान, दर्शन, उपयोग ये विद्यमान हैं। ये सिद्ध सदा ही शुद्ध रहते हैं क्योंकि मुक्ति प्राप्ति के बाद पुनः कर्मबंधन नहीं होता है।

जो भव्य जीव उक्त गुणस्थानादि बीस भेदों को (प्ररूपणाओं को) निक्षेप, एकार्थ (असाधारण लक्षण) नय, प्रमाण, निरुक्ति, अनुयोग आदि के द्वारा जान लेता है वही आत्मा के सद्भाव को समझता है अर्थात् जो भव्य जीव गुणस्थान, जीवसमास आदि बीस प्ररूपणाओं को प्रमाण, नय आदि से अच्छी तरह से समझ लेते हैं वे ही भव्य अपनी आत्मा के अस्तित्व को समझकर आत्मदया के साथ-साथ परदया का पालन करते हुए शीघ्र ही बीस प्ररूपणाओं में से छह प्ररूपणा से सहित एवं चौदह प्ररूपणा से रहित शाश्वत सिद्धधाम में विराजमान हो जाते हैं और वहाँ अनंतानंत काल तक पूर्ण ज्ञान में मग्न रहते हुए पूर्ण अक्षय सौख्य का उपभोग करते रहेंगे।

परिशिष्ट

छठे, सातवें, आठवें और नवमें गुणस्थान का विशेष वर्णन

अब प्रमादों का विशेष वर्णन करने के लिये उनके पाँच प्रकारों का वर्णन करते हैं—

संखा तह पत्थारो, परियट्टण णट्ठ तह समुद्दिट्ठं।
एदे पंच पयारा, पमदसमुक्कित्तणे णेया।।35।।

संख्या तथा प्रस्तारः परिवर्तनं नष्टं तथा समुद्दिष्टम्।
एते पंच प्रकाराः प्रमादसमुत्कीर्तने ज्ञेयाः।।35।।

अर्थ—प्रमाद के विशेष वर्णन के विषय में इस पाँच प्रकारों को समझना चाहिये। संख्या, प्रस्तार, परिवर्तन, नष्ट और समुद्दिष्ट। आलापों के भेदों की गणना को संख्या, संख्या के रखने या निकालने के क्रम को प्रस्तार, एक भेद से दूसरे भेद पर पहुँचने के क्रम को परिवर्तन, संख्या के द्वारा भेद के निकालने को नष्ट और भेद को रखकर संख्या निकालने को समुद्दिष्ट कहते हैं।

क्रमानुसार सबसे प्रथम संख्या की उत्पत्ति का क्रम बताते हैं—

सव्वे पि पुव्वभंगा, उवरिमभंगेसु एक्कमेक्केसु।
भेलंति त्ति य कमसो, गुणिदे उप्पज्जदे संखा।।36।।

सर्वेऽपि पूर्वभंगा, उपरिमभंगेषु एकैकेषु।
मिलन्ति इति च क्रमशो, गुणिते उत्पद्यते संख्या।।36।।

अर्थ—पूर्व के सब ही भंग आगे के प्रत्येक भंग में मिलते हैं इसलिये क्रम से गुणा करने पर संख्या उत्पन्न होती है।

भावार्थ—पूर्व के विकथाओं के प्रमाण चार को आगे की कषायों के प्रमाण चार से गुणा करना चाहिए क्योंकि विकथा प्रत्येक कषाय के साथ पाई जाती है। इससे जो राशि उत्पन्न हो (जैसे 16) उसको पूर्व समझकर उसके आगे के इंद्रियों के प्रमाण पाँच से गुणा करना चाहिए क्योंकि प्रत्येक विकथा या कषाय प्रत्येक इंद्रिय के साथ पाई जाती है। इसके अनुसार

सोलह को पाँच से गुणने पर अस्सी प्रमादों की संख्या निकलती है। निद्रा और प्रणय ये एक ही एक है इसलिये इनके साथ गुणा करने पर संख्या में वृद्धि नहीं हो सकती अतएव इनसे गुणा करने की आवश्यकता नहीं है।

अब प्रस्तार क्रम को दिखाते हैं—

पढमं पमदपमाणं, कमेण णिक्खिविय उवरिमाणं च।
पिंड पडि एक्केकं, णिक्खित्ते होदि पत्थारो।।37।।

प्रथमं प्रमादप्रमाणं, क्रमेण निक्षिप्य उपरिमाणं च।
पिंडं प्रति एकैकं, निक्षिप्ते भवति प्रस्तारः।।37।।

अर्थ—प्रथम प्रमाद के प्रमाण का विरलन कर क्रम से निक्षेपण करके उसके एक-एक रूप के प्रति आगे के पिण्डरूप प्रमाद के प्रमाण का निक्षेपण करने पर प्रस्तार होता है।

भावार्थ—प्रथम विकथा प्रमाद का प्रमाण 4, उसका विरलन कर क्रम से 1111 इस तरह निक्षेपण करना। इसके ऊपर कषाय प्रमाद के प्रमाण चार को प्रत्येक एक के ऊपर $\frac{4\,4\,4\,4}{1\,1\,1\,1}$ इस तरह निक्षेपण करना, ऐसा करने के अनंतर परस्पर (कषाय को) जोड़ देने पर (16) सोलह होते हैं। इन सोलह का भी पूर्व की तरह विरलन कर एक-एक करके सोलह जगह रखना तथा प्रत्येक एक के ऊपर आगे के इंद्रिय प्रमाद का प्रमाण पाँच-पाँच रखना। ऐसा करने से पूर्व की तरह परस्पर जोड़ने पर अस्सी प्रमाद होते हैं। इसको प्रस्तार कहते हैं। इससे यह मालूम हो जाता है कि पूर्व के समस्त प्रमाद, आगे के प्रमाद के प्रत्येक भेद के साथ पाए जाते हैं।

प्रस्तार का दूसरा क्रम बताते हैं—

णिक्खित्तु विदियमेत्तं, पढमं तस्सुवरि विदियमेक्केक्कं।
पिंडं पडि णिक्खेओ, एवं सव्वत्थ कायव्वो।।38।।

निक्षिप्त्वा द्वितीयमात्रं प्रथमं तस्योपरि द्वितीयमेकैकम्।
पिण्डं प्रति निक्षेप, एवं सर्वत्र कर्तव्यः।।38।।

अर्थ—दूसरे प्रमाद का जितना प्रमाण है उतनी जगह पर प्रथम प्रमाद के पिण्ड को रखकर, उसके ऊपर एक-एक पिण्ड के प्रति आगे के प्रमाद में

से एक-एक का निक्षेपण करना और आगे भी सर्वत्र इसी प्रकार करना।

भावार्थ—दूसरे कषाय प्रमाद का प्रमाण चार है इसलिये चार जगह पर प्रथम विकथा प्रमाद के पिण्ड का स्थापन करके उसके ऊपर अर्थात् प्रत्येक पिण्ड के प्रति एक-एक कषाय का $\frac{1111}{4444}$ इस तरह से स्थापन करना। इनको परस्पर जोड़ने से सोलह होते हैं। पुनः इन सोलह को भी प्रथम समझकर इनसे आगे के इंद्रिय प्रमाद का प्रमाण पाँच है इसलिये सोलह के पिण्ड को पाँच जगह रखकर पीछे प्रत्येक पिण्ड पर क्रम से एक-एक इंद्रिय का स्थापन करना ($\frac{1}{16}\ \frac{1}{16}\ \frac{1}{16}\ \frac{1}{16}\ \frac{1}{16}$) इन सोलह को इंद्रिय प्रमाद के प्रमाण पाँच से गुणा करने पर या पाँच जगह पर रखे हुए सोलह को परस्पर जोड़ने से प्रमादों की संख्या अस्सी निकलती है।

प्रथम प्रस्तार की अपेक्षा अक्षपरिवर्तन[1] को कहते हैं—

तदियक्खो अंतगदो आदिगदे संकमेदि विदियक्खो।
दोण्णि वि गंतूणंतं आदिगदे संकमेदि पढमक्खो[2]।।39।।

तृतीयाक्ष अन्तगत आदिगते, संक्रामति द्वितीयाक्षः।
द्वावपि गत्वान्तमादिगते, संक्रामति प्रथमाक्षः।।39।।

अर्थ—प्रमाद का तृतीय स्थान अंत को प्राप्त होकर जब फिर से आदिस्थान को प्राप्त हो जाय तब प्रमाद का दूसरा स्थान भी बदल जाता है। इसी प्रकार जब दूसरा स्थान भी अंत को प्राप्त होकर फिर आदि को प्राप्त हो जाय तब प्रथम प्रमाद का स्थान बदलता है। निद्रा और स्नेह इनका दूसरा भेद नहीं है, इसलिये इनमें अक्षसंचार नहीं होता।

भावार्थ—तीसरा इंद्रिय स्थान जब स्पर्शनादि के क्रम से क्रोध और प्रथम विकथा पर घूमकर अंत को प्राप्त हो जाय तब दूसरे कषाय स्थान में क्रोध का स्थान छूटकर मान का स्थान होता है। इसी प्रकार क्रम से जब कषाय का स्थान भी पूर्ण हो जाय तब विकथा में स्त्रीकथा का स्थान छूटकर

1. एक स्थान को छोड़कर दूसरे स्थान पर जाने को परिवर्तन कहते हैं।
2. मुद्रित बड़ी टीका में नं.-39 की गाथा नं.-40 पर और नं.-40 की गाथा 39 पर मुद्रित है किन्तु यहाँ प्रस्तार क्रम के अनुसार रखी गई है।

राष्ट्रकथा का स्थान होता है। इस क्रम से 1. स्त्रीकथालापी क्रोधी स्पर्शनेन्द्रियवशंगतो निद्रालुः स्नेहवान्, 2. स्त्रीकथालापी क्रोधी, रसनेन्द्रिय-वशंगतः निद्रालुः स्नेहवान्, 3. स्त्रीकथालापी क्रोधी, घ्राणेन्द्रि-यवशंगतः निद्रालुः स्नेहवान्, 4. स्त्रीकथालापी क्रोधी, चक्षुरिन्द्रियवशंगतः निद्रालु स्नेहवान्, 5. स्त्रीकथालापी क्रोधी, श्रोत्रेन्द्रियवशंतगतः निद्रालु स्नेहवान्। इस तरह इंद्रिय स्थान अंत तक होकर जब पुनः स्पर्शन पर आता है तब क्रोध की जगह मान हो जाता है। मान के भी पाँच संचार पूरे हो जाने पर माया के साथ और माया के भी पूरे हो जाने पर लोभ के साथ 5-5 संचार होते हैं। इस प्रकार स्त्रीकथा के साथ 20 भंग होने पर भक्तकथा, राष्ट्रकथा और अवनिपालकथा के साथ भी क्रम से 20-20 भंग होकर प्रमाद के कुल 80 भंग होते हैं।

आगे की गाथा में दूसरे प्रस्तार की अपेक्षा जो अक्षसंचार बताया है, उसका भी यही क्रम है। अंतर इतना ही है कि इंद्रियों के स्थान पर विकथाओं को और विकथाओं की जगह इंद्रियों को रखकर संचार हुआ करता है।

दूसरे प्रस्तार की अपेक्षा अक्षसंचार को कहते हैं–

पढमक्खो अन्तगदो, आदिगदे संकमेदि विदियक्खो।
दोण्णि वि गंतूणंतं आदिगदे संकमेदि तदियक्खो।।40।।

प्रथमाक्ष अंतगत आदिगते संक्रामति द्वितीयाक्षः।
द्वावपि गत्वान्तमादिगते, संक्रामति तृतीयाक्षः।।40।।

अर्थ—प्रथमाक्ष जो विकथारूप प्रमाद स्थान वह घूमता हुआ जब क्रम से अंत तक पहुँचकर फिर स्त्रीकथा रूप आदि स्थान पर आता है, तब दूसरा कषाय का स्थान क्रोध को छोड़कर मान पर आता है। इसी प्रकार जब दूसरा कषायस्थान भी अंत को प्राप्त होकर फिर आदि (क्रोध) स्थान पर आता है तब तीसरा इंद्रियस्थान बदलता है अर्थात् स्पर्शन को छोड़कर रसना पर आता है।

आगे नष्ट के लाने की विधि बताते हैं—

सगमाणेहिं विभत्ते सेसं लक्खित्तु जाण अक्खपदं।
लद्धे रूवं पक्खिव सुद्धे अंते ण रूवपक्खेवो।।41।।

स्वकमानैर्विभक्ते शेषं, लक्षयित्वा जानीहि अक्षपदम्
लब्धे रूपं प्रक्षिप्य, शुद्धे अन्ते न रूपप्रक्षेपः।।41।।

अर्थ—किसी ने जितनेवां प्रमाद का भंग पूछा हो उतनी संख्या को रखकर उसमें क्रम से प्रमाद प्रमाण का भाग देना चाहिए। भाग देने पर जो शेष रहे उसको अक्षस्थान समझ जो लब्ध आवे उसमें एक मिला कर दूसरे प्रमाद के प्रमाण का भाग देना चाहिए और भाग देने से जो शेष रहे उसको अक्षस्थान समझना चाहिए किन्तु शेष स्थान में यदि शून्य हो तो अंत का अक्षस्थान समझना चाहिए और उसमें एक नहीं मिलाना चाहिए। जैसे किसी ने पूछा कि प्रमाद का बीसवाँ भंग कौन सा है ? तो बीस की संख्या को रखकर उसमें प्रथम विकथा प्रमाद के प्रमाण चार का भाग देने पर लब्ध पाँच आये तो शून्य शेष स्थान में है, इसलिए पाँच में एक नहीं मिलाना और अंत की विकथा (अवनिपालकथा) समझना चाहिए। इसी प्रकार आगे भी कषाय के प्रमाण चार का पाँच में भाग देने से लब्ध और शेष एक-एक ही रहा इसलिये प्रथम क्रोध कषाय और लब्ध एक में एक और मिलाने से दो होते हैं, इसलिये दूसरी रसनेन्द्रिय समझनी चाहिए अर्थात् 20वाँ भंग अवनिपालकथालापी क्रोधी रसनेन्द्रियवशंगतो निद्रालु स्नेहवान् यह हुआ। इसी रीति से प्रथम प्रस्तार की अपेक्षा 20वां भंग स्त्रीकथालीपा लोभी श्रोतेन्द्रियवशंगतः होगा।

अब उद्दिष्ट का स्वरूप कहते हैं—

संठाविदूण रूवं उवरीदो संगुणित्तु सगमाणे।
अवणिज्ज अणंकिदयं, कुज्जा एमेव सव्वत्थ।।42।।

संस्थाप्य रूपमुपरितः सगुणित्वा स्वकमानम्।
अपनीयानकितं कुर्यात् एवमेव सर्वत्र।।42।।

अर्थ—एक का स्थापन करके आगे के प्रमाद का जितना प्रमाण है उसके साथ गुणाकार करना चाहिए और उसमें जो अनंकित हो उसका त्याग

करे। इसी प्रकार आगे भी करने से उद्दिष्ट का प्रमाण निकलता है।

भावार्थ—प्रमाद के भंग को रखकर उसकी संख्या के निकालने को उद्दिष्ट कहते हैं। उसके निकालने का क्रम यह है कि किसी ने पूछा कि राष्ट्रकथालापी मायी घ्राणेन्द्रियवशंगतः निद्रालुः स्नेहवान् यह प्रमाद का भंग कितनेवां है? तो (1) संख्या को रखकर उसको प्रमाद के प्रमाण से गुणा करना चाहिए और जो अनंकित हो उसको उसमें से घटा देना चाहिए। जैसे एक का स्थापन कर उसको इंद्रियों के प्रमाण पाँच से गुणा करने पर पाँच हुए उसमें से अनंकित चक्षुः श्रोत्र दो हैं क्योंकि भंग पूछने में घ्राणेन्द्रिय का ग्रहण किया है इसलिये दो को घटाया तो शेष रहे तीन, उनको कषाय के प्रमाण चार से गुणा करने पर बारह होते हैं उनमें अनंकित एक लोभकषाय है, इसलिये एक घटा दिया तो शेष रहे ग्यारह। उनकी विकथाओं के प्रमाण चार से गुणने पर चवालीस होते हैं उसमें से एक अवनिपालकथा को घटा दिया तो शेष रहे तैंतालीस, इसलिए उक्त भंग तैंतालीसवां हुआ। किन्तु प्रथम प्रस्तार की अपेक्षा यह 53 नं. का भंग होगा।

प्रथम प्रस्तार की अपेक्षा जो अक्षपरिवर्तन बताया था उसके आश्रय से नष्ट और उद्दिष्ट के गूढ़ यन्त्र को दिखाते हैं—

इगिवितिचपणखपणदशपण्णरसं खवीसतालसट्ठी य।
संठविय पमदठाणे, णट्ठुद्दिट्ठं च जाण तिट्ठाणे।।43।।

एकद्वित्रिचतुः पंचखपंचदशपंचदश खविंशच्चत्वारिंशत् षष्ठीश्च।
संस्थाप्य प्रमादस्थाने, नष्टोद्दिष्टे च जानीहि त्रिस्थाने।।43।।

अर्थ—तीन प्रमाद स्थानों में क्रम से प्रथम पाँच इंद्रियों के स्थान पर एक, दो, तीन, चार, पाँच को क्रम से स्थापन करना। चार कषायों के स्थान पर शून्य पाँच, दश, पंद्रह स्थापन करना तथा विकथाओं के स्थान पर क्रमशः शून्य, बीस, चालीस, साठ स्थापन करना। ऐसा करने से नष्ट उद्दिष्ट अच्छी तरह समझ में आ सकते हैं क्योंकि जो भंग विवक्षित हो उसके स्थानों पर रखी हुई संख्या को परस्पर जोड़ने से, यह कितनेवां भंग है अथवा इस संख्या वाले भंग में कौन-कौन सा प्रमाद आता है, यह समझ में आ सकता है।

दूसरे प्रस्तार की अपेक्षा गूढ़यन्त्र को कहते हैं—

इगिवितिचखचडवारम् खसोलरागट्ठदालचउसट्ठिं।
संठविय पमदठाणे, णट्ठुद्दिट्ठं च जाण तिट्ठाणे।।44।।

एकद्वित्रिचतुः खचतुरष्टद्वादश, खषोडशरागाष्टचत्वारिंशिच्चतुषष्टिम्।
संस्थाप्य प्रमादस्थाने नष्टोद्दिष्टे च जानीहि त्रिस्थाने।।44।।

अर्थ—दूसरे प्रस्तार की अपेक्षा तीनों प्रमाद स्थानों में क्रम से प्रथम विकथाओं के स्थान पर 1/2/3/4 स्थापन करना और कषायों के स्थान पर 0/4/8/12 स्थापन करना और इंद्रियों की जगह पर 0/16/32/48/64 स्थापन करना ऐसा करने से दूसरे प्रस्तार की अपेक्षा भी पूर्व की तरह नष्टोद्दिष्ट समझ में आ सकते हैं।

ऊपर के गाथा नं. 43 में बताये गये प्रस्तार की अपेक्षा गूढ़ यंत्र—

स्प.	र.	घ्रा.	च.	श्रो.
1	2	3	4	5
क्रो.	मा.	मा.	लो.	
0	5	10	15	
स्त्री.	भ.	रा.	अ.	
0	20	40	30	

ऊपर के गाथा नं. 44 में बताये गये द्वितीय प्रस्तार की अपेक्षा गूढ़ यंत्र—

स्त्री.	भ.	रा.	अ.	
1	2	3	4	
क्रो.	मा.	मा.	लो.	
0	4	8	12	
स्प.	र.	घ्रा.	च.	श्रो.
1	16	32	48	64

1. राग शब्द से 32 लिए जाते हैं क्योंकि "कटपयपुरः स्थवर्णैः" इत्यादि नियमसूत्र के अनुसार ग का अर्थ तीन और र का अर्थ 2 होता है और यह नियम है कि अंकों की विपरीत गति होती है।

इसी प्रकार साढ़े सैंतीस हजार का गूढ़ यंत्र बनता है।

सप्तम गुणस्थान का स्वरूप बताते हैं–

संजलणणोकसायाणुदओ मंदो जदा तदा होदि।
अपमत्तगुणो तेण य, अपमत्तो संजदो होदि।।45।।

संज्वलननोकषायाणामुदयो मन्दो यदा तदा भवति।
अप्रमत्तगुणस्तेन च, अप्रमत्तः संयतो भवति।।45।।

अर्थ—जब संज्वलन और नोकषाय का मंद उदय होता है तब सकल संयम से युक्त मुनि के प्रमाद का अभाव हो जाता है इस ही लिये इस गुणस्थान को अप्रमत्तसंयत कहते हैं। इसके दो भेद हैं—एक स्वस्थापनाप्रमत्त दूसरा सातिशयाप्रमत्त।

छट्ठे गुणस्थान में संयत का प्रमत्त विशेषण अन्त्यदीपक है अतएव यहाँ तक के सभी गुणस्थान वाले जीव प्रमाद सहित हुआ करते हैं और इससे ऊपर के गुणस्थान वाले जीव प्रमाद रहित ही होते हैं। यही कारण है कि सातवें गुणस्थान का नाम अप्रमत्तसंयत है।

प्रश्न हो सकता है कि जब ऊपर के यहाँ से आगे के सभी गुणस्थान संयत और अप्रमत्त हैं तब अप्रमत्तसंयत इस नाम से सभी गुणस्थानों का ग्रहण हो जाएगा अतएव आठवें आदि गुणस्थानों के भिन्न-भिन्न नाम निर्देश की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर—यद्यपि संज्वलन के तीव्र उदय के अभाव की अपेक्षा ऊपर के सभी गुणस्थान सामान्य रूप से अप्रमत्त हैं फिर भी उन गुणस्थानों में होने वाले या पाए जाने वाले अन्य कार्यों का विशेषण रूप से उल्लेख करके उन-उनका भिन्न-भिन्न नाम निर्देश किया गया है।

इस गुणस्थान में जब तक चारित्रमोहनीय की 21 प्रकृतियों के उपशमन तथा क्षपण के कार्य का प्रारंभ नहीं होता किन्तु संज्वलन के मंदोदय के कारण प्रमाद भी नहीं होता केवल सामान्य ध्यानावस्था रहती है तब तक यह अवस्था निरतिशत अप्रमत्त कही जाती है और जब इसी गुणस्थान वाला जीव उक्त प्रकृतियों का उपशमन या क्षपण करने के लिए

उद्यत होता है तब उसकी सातिशय अप्रमत्त अवस्था हुआ करती है। इस तरह एक ही गुणस्थान की दो अवस्थायें हैं और ये दो अवस्थायें ही आगे की दोनों गाथाओं में स्पष्ट की गई हैं।

स्वस्थानाप्रमत्तसंयत का निरूपण करते हैं—

णट्ठासेसपमादो, वयगुणसीलोलिमंडिओ णाणी।
अणुवसमओ अखवओ झाणणिलीणो हु अपमत्तो।।46।।

नष्टाशेषप्रमादो, व्रतगुणशीलावलिमण्डितो ज्ञानी।
अनुपशमक अक्षपको, ध्याननिलीनो हि अप्रमत्तः।।46।।

अर्थ—जिस संयत के सम्पूर्ण व्यक्ताव्यक्त प्रमाद नष्ट हो चुके हैं और जो समग्र ही महाव्रत अट्ठाईस मूलगुण तथा शील से युक्त हैं, शरीर और आत्मा के भेदज्ञान में तथा मोक्ष के कारणभूत ध्यान में निरंतर लीन रहता है, ऐसा अप्रमत्त मुनि जब तक उपशमक या क्षपक श्रेणी का आरोहण नहीं करता तब तक उसको स्वस्थान अप्रमत्त अथवा निरतिशय अप्रमत्त कहते हैं।

सातिशय अप्रमत्त का स्वरूप बताते हैं—

इगवीसमोहखबणुबसमणणिमित्ताणि तिकरणाणि तहिं।
पढमं अधापवत्तं, करणं तु करेदि अपमत्तो।।47।।

एकविंशतिमोहक्षपणोपशमननिमित्तानि त्रिकरणानि तेषु।
प्रथममधः प्रवृत्तं, करणं तु करोति अप्रमत्तः।।47।।

अर्थ—अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन संबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ इस तरह बारह और नव हास्यादिक नोकषाय कुल मिलकर मोहनीय कर्म की इन इक्कीस प्रकृतियों के उपशम या क्षय करने को आत्मा के ये तीन करण अर्थात् तीन प्रकार के विशुद्ध परिणाम निमित्तभूत हैं—अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण। उनमें से सातिशय अप्रमत्त अर्थात् जो श्रेणी चढ़ने के लिए सम्मुख या उद्यत हुआ है वह नियम से पहले अधःप्रवृत्तकरण को करता है।

1. षट्खंडागम संतसुत्त पृ. 179 गाथा नं. 115।

अधःप्रवृत्तकरण का लक्षण कहते हैं—

जह्मा उवरिमभावा, हेट्ठिमभावेहिं सरिसगा होंति।
तह्मा पढमं करणं अधापवत्तोत्ति णिद्दिट्ठं।।48।।

यस्मादुपरितनभावा, अधस्तनभावैः सदृशका भवन्ति।
तत्मात्प्रथमं करणामधः प्रवृत्तमिति निर्दिष्टम्।।48।।

अर्थ—अधःप्रवृत्तकरण के काल में से ऊपर के समयवर्ती जीवों के परिणाम नीचे के समयवर्ती जीवों के परिणामों के सदृश अर्थात् संख्या और विशुद्धि की अपेक्षा समान होते हैं इसलिए प्रथम करण को अधःप्रवृत्तकरण कहा है।

अधःप्रवृत्तकरण के काल और उसमें होने वाले परिणामों का प्रमाण बताते हुए उनकी सदृश वृद्धि का निर्देश करते हैं—

अन्तोमुहुत्तमेत्तो तक्कालो होदि तत्थ परिणामा।
लोगाणमसंखमिदा, उवरुवरिं सरिसवड्ढिगया।।49।।

अंतर्मुहूर्तमात्रस्तत्कालो भवति तत्र परिणामाः।
लोकानामसंख्यमिता उपर्युपरिसदृशवृद्धिगताः।।49।।

अर्थ—इस अधःप्रवृत्तकरण का काल अन्तर्मुहूर्त मात्र है और उसमें परिणाम असंख्यातलोक प्रमाण होते हैं और ये परिणाम ऊपर-ऊपर सदृश वृद्धि को प्राप्त होते गये हैं अर्थात् यह जीव चारित्रमोहनीय की शेष 21 प्रकृतियों का उपशम या क्षय करने के लिए अधःकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरणों को करता है। प्रत्येक भेद के परिणामों का प्रमाण असंख्यातलोक प्रमाण है और उनमें जो उत्तरोत्तर वृद्धि होती है वह समानता को लिए हुए होती है। इनमें से अधःकरण श्रेणी चढ़ने के सम्मुख सातिशय अप्रमत्त के होता है और अपूर्वकरण आठवें और अनिवृत्तिकरण नवमें गुणस्थान में होता है।

भावार्थ—करण नाम आत्मा के परिणामों का है। इन परिणामों में प्रतिसमय अनंतगुणी विशुद्धता होती जाती है। जिसके बल से कर्मों का उपशम तथा क्षय और स्थितिखण्डन तथा अनुभागखण्डन होते हैं। इन तीनों

करणों का काल यद्यपि सामान्यालाप से अंतर्मुहूर्त मात्र है तथापि अधःकरण काल के संख्यातवें भाग अपूर्वकरण का काल है और अपूर्वकरण के काल से संख्यातवें भाग अनिवृत्तिकरण का काल है। अधःप्रवृत्तकरण के परिणाम असंख्यातलोक प्रमाण हैं। अपूर्वकरण के परिणाम अधःकरण के परिणामों से असंख्यात लोकगुणित हैं और अनिवृत्तिकरण के परिणामों की संख्या उसके काल के समयों के समान है अर्थात् अनिवृत्तिकरण के काल के जितने समय हैं उतने ही उसके परिणाम हैं। पूर्वोक्त कथन का खुलासा बिना दृष्टान्त के नहीं हो सकता इसलिए इसका दृष्टांत इस प्रकार समझना चाहिए।

कल्पना करो कि अधःकरण के काल के समयों का प्रमाण 16, अपूर्वकरण के काल के समयों का प्रमाण 8 और अनिवृत्तिकरण के काल के समयों का प्रमाण 4 है। अधःकरण के परिणामों की संख्या 3072, अपूर्वकरण के परिणामों की संख्या 4096 और अनिवृत्तिकरण के परिणामों की संख्या 4 है। एक समय में एक जीव के एक ही परिणाम होता है इसलिए एक जीव अधःकरण के 16 समयों में 16 परिणामों को ही धारण कर सकता है। अधःकरण के और अपूर्वकरण के परिणाम जो 16 और 8 से अधिक कहे हैं वे नाना जीवों की अपेक्षा से कहे गए हैं।

यहाँ इतना विशेष है कि अधःकरण के 16 समयों में से प्रथम समय में यदि कोई भी जीव अधःकरण माँड़ेगा तो उसके अधःकरण के समस्त परिणामों में से पहले 162 परिणामों में से कोई एक परिणाम होगा अर्थात् तीन काल में जब कभी चाहे, जब चाहे जो अधःकरण माँड़ेगा तो उसके पहले समय में नम्बर 1 से लगाकर नम्बर 162 तक के परिणामों में से उसकी योग्यता के अनुसार कोई एक परिणाम होगा।

इस ही प्रकार किसी भी जीव के उसके अधःकरण माँड़ने के दूसरे समय में नम्बर 40 से लगाकर नंबर 205 तक 166 परिणामों में से कोई एक परिणाम होगा। इस ही प्रकार तीसरे, चौथे आदि समयों में भी क्रम से नम्बर 80 से लगाकर 249 तक, 170 परिणामों में से कोई एक और 121 से लगाकर 294 तक के 174 परिणामों में से कोई एक परिणाम होगा। इसी तरह आगे के समयों में होने वाले परिणाम गोम्मटसार की बड़ी टीका और

सुशीला उपन्यास में से यहाँ दिए हुए यंत्र द्वारा समझ लेने चाहिए।

अधःकरण के अपुनरुक्त परिणाम केवल 912 हैं और समस्त समयों में होने वाले पुनरुक्त और अपुनरुक्त परिणामों का जोड़ 3072 है। इस अधःकरण के परिणाम समान वृद्धि को लिए हुए हैं अर्थात् पहले समय के परिणाम से द्वितीय समय के परिणाम जितने अधिक हैं उतने ही उतने द्वितीयादिक समयों के परिणामों में से तृतीयादिक समयों के परिणाम अधिक हैं। इस समान वृद्धि को ही चय कहते हैं। इस दृष्टांत में चय का प्रमाण 4 है, स्थान का प्रमाण 16 और सर्वधन का 3072 है। प्रथमस्थान में वृद्धि का अभाव है, इसलिए अंतिम स्थान में एक घाटि पद (स्थान) प्रमाण चय वर्द्धित हैं अतएव एक घाटि पद के आधे को चय और पद से गुणा करने पर $\frac{15}{2} \times 4 \times 16 = 480$ चयन का प्रमाण होता है।

भावार्थ—प्रथम समय के समान समस्त समयों में परिणामों को भिन्न समझकर वर्द्धित प्रमाण के जोड़ को चयधन वा उत्तरधन कहते हैं। सर्वधन में से चयधन को घटाकर शेष में पद का भाग देने से प्रथम समय संबंधी परिणाम पुंज का प्रमाण $\frac{3072}{6} - \frac{480}{6} = 162$ होता है। इसमें क्रम से एक-एक चय जोड़ने पर द्वितीयादिक समयों के परिणामपुंज का प्रमाण होता है। एक घाटि पद प्रमाण चय मिलाने से अंत समय संबंधी परिणाम पुंज का प्रमाण 162+15+4=222 होता है। एक समय में अनेक परिणामों की संभावना है इसलिये एक समय में अनेक जीव अनेक किन्तु भिन्न-भिन्न परिणामों को ग्रहण कर सकते हैं अतएव एक समय में नाना जीवों की अपेक्षा से परिणामों में विसदृशता है।

एक समय में अनेक जीव एक परिणाम को ग्रहण कर सकते हैं, इस-लिये एक समय में नाना जीवों की अपेक्षा से परिणामों में सदृशता भी है। भिन्न समयों में अनेक जीव अनेक परिणामों को ग्रहण कर सकते हैं इसलिये भिन्न समयों में नाना जीवों की अपेक्षा से परिणामों में विसदृशता है। जो परिणाम किसी एक जीव के प्रथम समय में हो सकता है वही परिणाम किसी दूसरे जीव के दूसरे समय में और तीसरे जीव के तीसरे समय में तथा चौथे जीव के चौथे समय में हो सकता है इसलिये भिन्न-भिन्न समयवर्ती

अनेक जीवों के परिणामों में सदृशता भी होती है। जिसे 162 नम्बर का परिणाम प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ समय में भी हो सकता है।

प्रथम समय संबंधी परिणामपुंज के भी 39, 40, 41 और 42 इस तरह चार खण्ड किये गये हैं अर्थात् नम्बर 1 से लेकर 39 नम्बर तक के 39 परिणाम ऐसे हैं जो प्रथम समय में ही पाये जाते हैं द्वितीयादिक समयों में नहीं, इन्हीं 39 परिणामों के पुंज को प्रथम खण्ड कहते हैं। दूसरे खण्ड में नम्बर 40 से 79 तक 40 परिणाम ऐसे हैं जो कि प्रथम और द्वितीय समय में पाये जाते हैं, इन चालीस परिणामों के समूह को ही द्वितीय खण्ड कहते हैं। तीसरे खण्ड में नम्बर 80 से 120 तक 41 परिणाम ऐसे हैं जो कि द्वितीय, तृतीय समयों में पाए जाते हैं। चतुर्थ खंड में नं. 121 से 162 तक 42 परिणाम ऐसे हैं जो आदि के चारों ही समयों में पाये जा सकते हैं।

इसी प्रकार अन्य समयों में भी समझना चाहिये। अधःकरण के ऊपर के समस्त परिणाम पूर्ववर्ती परिणाम की अपेक्षा अनंतगुणी विशुद्धता लिये हुये हैं।

इस प्रकरण में प्रयुक्त कुछ आवश्यक शब्दों की परिभाषा, उसके निकालने की विधि और करण सूत्रों को समझ लेना अधिक उपयोगी होगा अतएव उनका संक्षेप में यहाँ परिचय दिया जाता है।

सर्वधन—इसका आशय ऊपर बताया जा चुका है। सम्पूर्ण समयों में पाए जाने वाले समस्त परिणामों के समूह को सर्वधन कहते हैं। इसी का दूसरा नाम पदधन भी है। यह "मुहभूमीजोगदले पदगुणिदे पदधणं होदि" इस करण सूत्र के अनुसार निकाला जा सकता है अर्थात् मुख—आदि स्थान का प्रमाण और भूमि—अंतिम स्थान का प्रमाण दोनों को जोड़कर जो संख्या हो उसके आधे का पदप्रमाण से गुणा करने पर सर्वधन निष्पन्न होता है, यथा—

$$162+222=\frac{384}{2}X16=3072$$

पद—इसको गच्छ या स्थान शब्द से भी कहते हैं। यह सम्पूर्ण समयों के प्रमाण का बोधक है तथा "आदी अन्ते शुद्धे, वड्ढिहिदे रुवसंजुदे ठाणा" इस करणसूत्र—नियम के अनुसार इसका प्रमाण निकाला जा सकता है

अर्थात् आदि को अंत में से घटाने पर जो बाकी रहे उसमें वृद्धि चय प्रमाण का भाग देना चाहिए। इससे जो लब्ध प्रमाण हो उसमें एक जोड़ देना चाहिए। ऐसा करने से $222-162=\frac{60}{4}+1=16$ का प्रमाण आता है।

अधःकरण की अनुकृष्टिकी रचना का यंत्र—

समय नं.	परिणामों की सं.	कहाँ से कहां तक	अनुकृष्टि रचना			
			54	55	56	57
16	222	691-912	691-744	745-799	800-855	856-912
			53	54	55	56
15	218	638-855	638-690	691-744	745-799	800-855
			52	53	54	55
14	214	586-799	58-637	638-690	691-744	745-799
			51	52	53	54
13	210	535-744	535-585	586-637	638-690	691-744
			50	51	52	53
12	206	485-690	485-534	535-585	586-637	638-690
			49	50	51	52
11	202	436-637	436-484	486-534	535-485	586-637
			48	49	50	51
10	198	388-585	388-435	436-485	485-534	535-585
			47	48	49	50
9	194	341-534	341-387	388-435	436-484	485-534
			46	47	48	49
8	190	295-485	295-340	341-387	388-435	436-484
			45	46	47	48
7	186	250-435	250-294	295-340	341-387	388-435
			44	45	46	47
6	182	206-387	206-249	250-294	295-340	341-387

समय नं.	परिणामों की सं.	कहाँ से कहां तक	अनुकृष्टि रचना			
			43	44	45	46
5	178	163-340	163-205	206-249	250-294	295-340
			42	43	44	45
4	174	121-294	121-162	163-205	206-249	250-294
			41	42	43	44
3	170	80-249	80-120	121-162	163-205	206-249
			40	41	42	43
2	166	40-205	40-79	80-120	121-162	163-205
			39	40	41	42
1	162	1-162	1-39	40-79	80-120	121-16

चय—इसका अर्थ ऊपर बताया जा चुका है। उत्तर और विशेष भी इसी के पर्यायवाचक शब्द हैं। इसका प्रमाण ''पदकदिसंखेणभाजियं पचयं'' इस नियम के अनुसार निकाला जा सकता है अर्थात् सर्वधन में पद के वर्ग का भाग देने पर जो लब्ध आवे उसमें पुनः संख्यात का भाग देने पर चय का प्रमाण निकलता है। $\frac{3072}{256}=\frac{12}{3}=4$

मुख, आदि, प्रथम ये पर्यायवाचक—समानार्थक शब्द हैं। प्रथम समय के द्रव्य का प्रमाण निकालने की विधि ऊपर बताई जा चुकी है।

आदिधन—''पदहतमुखमादिधणं'' इस नियम के अनुसार आदि द्रव्य को पद से गुणा करने पर आदिधन का प्रमाण निकलता है। यथा—162X16=2592।

अंतधन—इसको भूमि भी कहते हैं। इसका प्रमाण ''व्येकं पदं चयाभ्यस्तं तदादिसहितं धनम्'' इसके अनुसार निकलता है अर्थात् एक कम पद का चय से गुणा करना और उसमें प्रथम समय का प्रमाण जोड़ देना। 15X4=60+162=222।

मध्यधन—आदिधन और अंतधन को जोड़कर आधा करने से मध्यधन निकलता है। यदि स्थानों की संख्या सम हो तो बीच के दो स्थानों के प्रमाण को जोड़कर आधा करने से निकलता है।

उत्तरधन—''व्येकपदार्धघ्नचयगुणों गच्छ उत्तरधनम्'' इस नियम के अनुसार एक कम पद के आधे का चय से और गच्छ से गुणा करने पर उत्तरधन का प्रमाण होता है। यथा— $\frac{15}{2}\times4\times16=480$

अनुकृष्टि रचना—ऊपर के और नीचे के परिणामों में अनुकर्षण को दिखाने वाली रचना को कहते हैं। इसके यंत्र से मालूम हो जाता है कि ऊपर नीचे के समयवर्ती परिणामों में किस तरह से सदृशता का अनुकर्षण पाया जाता है। ऊपर जो करणसूत्र बताए गये हैं उन्हीं के अनुसार अनुकृष्टि रचना का हिसाब भी समझ में आ सकता है। किसी भी विवक्षित समय के परिणामों के समूह को सर्वधन मानकर और वहाँ के योग्य चय, गच्छ, उत्तरधन आदि को ध्यान में लेकर प्रमाण निकाल लेना चाहिए। जैसे कि प्रथम समय में सर्वधन 162 चय 1 गच्छ 4 और उत्तरधन का प्रमाण 6 है इसलिये अनुकृष्टिगत प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ खण्ड के द्रव्य का प्रमाण क्रम से 39, 40, 41 और 42 निकल आता है क्योंकि ऊर्ध्वगच्छ के प्रमाण 16 में संख्यात 4 (क्योंकि 4 समय तक सादृश्य पाया जाता है) का भाग देने से लब्ध 4 आते हैं, यही अनुकृष्टि में गच्छ का प्रमाण है। ऊर्ध्वरचना के चय प्रमाण 4 में अनुकृष्टिगच्छ 4 का भाग देने से लब्ध 1 आता है वही अनुकृष्टि के चय का प्रमाण है। गच्छ 4 में एक कम करने पर लब्ध 3 के आधे $\frac{1}{2}$ को चय 1 से गुणाकर और फिर गच्छ 4 से गुणा करने पर लब्ध 6 को सर्वधन 162 में घटाकर लब्ध 156 में गच्छ 4 का भाग देने से 39 प्रथम खण्ड का द्रव्य प्रमाण निकलता है। उसी में गच्छ के शेष स्थान 3 तक चय 1 को जोड़ने से क्रम से द्वितीयादि खण्ड का प्रमाण 40, 41, 42 आता है। इसी तरह अन्यत्र भी समझ लेना चाहिए।

अब अपूर्वकरण गुणस्थान को कहते हैं—

अंतोमुहुत्तकालं, गमिऊण अधापवत्तकरणं तं।
पडिसमयं सुज्झंतो, अपुव्वकरणं समल्लियइ।।50।।

अंतर्मुहूर्तकालं गमयित्वा, अधःप्रवृत्तकरणं तत्।
प्रतिसमयं शुद्धयन्, अपूर्वकरणं समाश्रयति।।50।।

अर्थ—जिसका अंतर्मुहूर्त मात्र काल है, ऐसे अधःप्रवृत्तकरण को बिताकर वह सातिशय अप्रमत्त जब प्रतिसमय अनंतगुणी विशुद्धि को लिए

हुए अपूर्वकरण जाति के परिणामों को करता है तब उसको अपूर्वकरण नामक अष्टमगुणस्थानवर्ती कहते हैं।

भावार्थ—यहाँ विशुद्धि शब्द उपलक्षण मात्र होने से प्रशस्त प्रकृतियों के चतुःस्थानी अनुभाग की अनंतगुणी वृद्धि, अप्रशस्त प्रकृतियों के द्विस्थानी अनुभाग की अनंतगुणी हानि तथा बध्यमान कर्मों के संख्यात हजार स्थितिबंधापसरण भी सूत होते हैं क्योंकि यहाँ पर अनंतगुणी विशुद्धि के साथ 4 आवश्यक माने गये हैं।

अपूर्वकरण का निरुक्तिपूर्वक लक्षण कहते हैं—

एदह्मि गुणट्ठाणे, विसरिससमयट्ठियेहिं जीवेहिं।
पुव्वमपत्ता जह्मा, होंति अपुव्वा हु परिणामा।।51।।

एतस्मिन् गुणस्थाने, विसदृशसमयस्थितैर्जीवैः।
पूर्वमप्राप्ता यस्मात्, भवन्ति अपूर्वा हि परिणामाः।।51।।

अर्थ—इस गुणस्थान में भिन्न समयवर्ती जीव, जो पूर्व समय में कभी भी प्राप्त नहीं हुए थे ऐसे अपूर्व परिणामों को ही धारण करते हैं इसलिए इस गुणस्थान का नाम अपूर्वकरण है।

भावार्थ—जिस प्रकार अधःकरण में भिन्न समयवर्ती जीवों के परिणाम सदृश और विसदृश दोनों ही प्रकार के होते हैं वैसा अपूर्वकरण में नहीं है किन्तु यहाँ पर भिन्न समयवर्ती जीवों के परिणाम विसदृश ही होते हैं सदृश नहीं होते।

इस गुणस्थान का दो गाथाओं द्वारा विशेष स्वरूप दिखाते हैं—

भिण्णसमयट्ठियेहिं दु, जीवेहिं ण होदि सव्वदा सरिसो।
करणेहिं एक्कसमयट्ठियेहिं सरिसो विसरिसो वा।।52।।

भिन्नसमयस्थितैस्तु जीवैर्न भवति सर्वदा सादृश्यम्।
करणैरेकसमयस्थियैः, सादृश्यं वैसादृश्यं वा।।52।।

अर्थ—यहाँ पर (अपूर्वकरण में) भिन्न समयवर्ती जीवों में विशुद्ध परिणामों की अपेक्षा कभी भी सादृश्य नहीं पाया जाता किन्तु एक समयवर्ती जीवों में सादृश्य और वैसादृश्य दोनों ही पाये जाते हैं—

अंतोमुहुत्तमेत्ते पडिसमयमसंखलोगपरिणामा।
कमउड्ढा पुव्वगुणे, अणुकट्टी णत्थि णियमेण।।53।।

अनंतर्मुहूर्तमात्रे, प्रतिसमयमसंख्यलोकपरिणामाः।
क्रमवृद्धा अपूर्वगुणे, अनुकृष्टिर्नास्ति नियमेन।।53।।

अर्थ—इस गुणस्थान का काल अंतर्मुहूर्त मात्र है और इसमें परिणाम असंख्यात लोकप्रमाण होते हैं और वे परिणाम उत्तरोत्तर प्रतिसमय समान वृद्धि को लिए हुए हैं तथा इस गुणस्थान में नियम से अनुकृष्टि रचना नहीं होती है।

भावार्थ—अधःप्रवृत्तकरण के काल से अपूर्वकरण का काल यद्यपि संख्यातगुणा हीन है तथापि सामान्य से अंतर्मुहूर्त मात्र ही है। इसमें परिणामों की संख्या अधःप्रवृत्तकरण के परिणामों की संख्या से असंख्यात लोकगुणी है और इन परिणामों में उत्तरोत्तर प्रतिसमय समान वृद्धि होती गई है अर्थात् प्रथम समय के परिणामों से जितने अधिक द्वितीय समय के परिणाम हैं उतने-उतने ही अधिक द्वितीयादि समयों के परिणामों से तृतीयादि समयों के परिणामोंमें सादृश्य पाया जाता है इसलिये वहाँ पर अनुकृष्टि रचना की है। इस प्रकार अपूर्वकरण में अनुकृष्टि रचना नहीं होती क्योंकि भिन्न समयवर्ती जीवों के परिणामों में यहाँ पर सादृश्य नहीं पाया जाता। इसकी अंकसंदृष्टि इस प्रकार है—सर्वधन का प्रमाण 4096 है, संख्यात का प्रमाण 4, चय का प्रमाण 16 और स्थान का प्रमाण 8 है। एक घाटि पद के आधे को चय और पद से गुणा करने पर चयधन का प्रमाण $\frac{7}{2}\times16\times8=448$ होता है। सर्वधन में से चयधन को घटाकर पद का भाग देने से प्रथम समय संबंधी परिणामपुंज का प्रमाण $\frac{4096-448}{8}=456$ होता है, इसमें एक-एक चय जोड़ने पर द्वितीयादिक समय में होने वाले परिणामों का प्रमाण निकलता है। इसमें एक घाटि पद प्रमाण चय जोड़ने से अंत समय संबंधी परिणामों का प्रमाण 456+7+16=568 होता है।

इन अपूर्वकरण परिणामों के द्वारा क्या कार्य होता है ? यह दो गाथाओं द्वारा स्पष्ट करते हैं—

तारिसपरिणामट्ठियजीवा हु जिणेहिं गलियतिमिरेहि।
मोहस्सपुव्वकरणा, खवणुवसमणुज्जया भणिया।।54।।

तादृशपरिणामस्थितजीवा, हि जिनैर्गलिततिमिरैः।

मोहस्यापूर्वकरणाः क्षपणोपशमनोद्यताः भणिताः।।54।।

अर्थ—अज्ञान अंधकार से सर्वथा रहित जिनेन्द्रदेव ने कहा है कि उक्त परिणामों को धारण करने वाले अपूर्वकरण गुणस्थानवर्ती जीव मोहनीय कर्म की शेष प्रकृतियों का क्षपण अथवा उपशमन करने में उद्यत होते हैं।

भावार्थ—इस गुणस्थान के चार आवश्यक कार्य हुआ करते हैं। 1. गुणश्रेणी निर्जरा, 2. गुणसंक्रमण, 3. स्थितिखण्डन, 4. अनुभाग खण्डन। ये चारों ही कार्य पूर्वबद्ध कर्मों में हुआ करते हैं। इनमें अनुभाग खण्डन पूर्वबद्ध सत्तारूप अप्रशस्त प्रकृतियों के अनुभाग का हुआ करता है क्योंकि इनके बिना चारित्रमोह की 21 प्रकृतियों का उपशम या क्षय नहीं हो सकता। अतएव अपूर्व परिणामों के द्वारा इन कार्यों को करके उपशम क्षपण के लिए यहीं से वह उद्यत हो जाया करता है।

णिद्दापयले नट्ठे सदि आऊ उवसमंति उवसमया।
खवयं ढुक्के खवया, णियमेण खवंति मोहं तु।।55।।

निद्राप्रचले नष्टे, सति आयुषि उपशमयन्ति उपशमकाः।
क्षपकं ढौकमानाः क्षपका, नियमेन क्षपयन्ति मोहं तु।।55।।

अर्थ—जिनके निद्रा और प्रचला की बंधव्युच्छित्ति हो चुकी है तथा जिनका आयुकर्म कभी विद्यमान है ऐसे उपशम श्रेणी का आरोहण करने वाले जीव शेष मोहनीय का उपशमन करते हैं और जो क्षपक श्रेणी का आरोहण करने वाले हैं वे नियम से मोहनीय का क्षपण करते हैं।

भावार्थ—जिसके अपूर्वकरण के छह भागों से प्रथम भाग में निद्रा और प्रचला की बंधव्युच्छित्ति हो गई है और जिसका आयुकर्म विद्यमान है जो मरण के सम्मुख नहीं है अर्थात् जो श्रेणी को चढ़ने वाला है क्योंकि श्रेणी से उतरते समय यहाँ पर मरण की संभावना है, इस प्रकार के उपशम श्रेणी को चढ़ने वाले जीव के अपूर्वकरण परिणामों के निमित्त से मोहनीय का उपशम और क्षपक श्रेणी वाले के क्षय होता है।

नवमें गुणस्थान का स्वरूप कहते हैं—

एकह्मि कालसमये, संठाणादीहिं जह णिवट्टंति।

ण णिवट्टंति तहावि य, परिणामेहि मिहो जेहि।।56।।
होंति अणियट्टिणो ते, पडिसमयं जेस्सिमेक्कपरिणामा।
विमलयरझाणहुयवहसिहाहिं णिद्दड्ढकम्मबणा।।57।।
जुम्मम्।

एकस्मिन् काल समये, संस्थानादिभिर्यथा निवर्तन्ते।
न निवर्तन्ते तथापि च परिणामैर्मिथो यैः।।56।।
भवन्ति अनिवर्तिनस्ते प्रतिसमयं येषामेकपरिणामाः।
विमलतरध्यानहुतवहशिखाभिर्निर्दग्धकर्मवनाः।।57।।युग्मम्।।

अर्थ—अंतर्मुहूर्तमात्र अनिवृत्तिकरण के काल में से आदि या मध्य या अंत के एक समयवर्ती अनेक जीवों में जिस प्रकार शरीर की अवगाहना आदि बाह्य कारणों से तथा ज्ञानावरणादिक कर्म के क्षयोपशमादि अंतरंग करणों से परस्पर में भेद पाया जाता है, उस प्रकार जिन परिणामों के निमित्त से परस्पर में भेद नहीं पाया जाता उनको अनिवृत्तिकरण कहते हैं। अनिवृत्तिकरण गुणस्थान का जितना काल है उतने ही उसके परिणाम हैं। इसलिये उसके काल के प्रत्येक समय में अनिवृत्तिकरण का एक ही परिणाम होता है तथा ये परिणाम अत्यंत निर्मल ध्यानरूप अग्नि की शिखाओं की सहायता से कर्मवन को भस्म कर देते हैं।

भावार्थ—यहाँ पर एक समयवर्ती नाना जीवों के परिणामों में पाई जाने वाली विशुद्धि में परस्पर निवृत्ति–भेद नहीं पाया जाता, अतएव इन परिणामों को अनिवृत्तिकरण कहते हैं। अनिवृत्तिकरण का जितना काल है उतने ही उनके परिणाम हैं इसलिये प्रत्येक समय में एक ही परिणाम होता है। यही कारण है कि यहाँ पर भिन्न समयवर्ती जीवों के परिणामों मे सर्वथा विसदृशता और एक समयवर्ती जीवों के परिणामों में सर्वथा सदृशता ही पाई जाती है। इन परिणामों से ही आयुकर्म को छोड़कर शेष सात कर्मों की गुणश्रेणी निर्जरा, गुणसंक्रमण, स्थितिखण्डन, अनुभाग खण्डन होता है और मोहनीय कर्म की बादर कृष्टि, सूक्ष्म कृष्टि आदि हुआ करती है।

।।समाप्त।।